विवाद से परे

ईश्वर

का अस्तित्व

◆ श्रीराम शर्मा आचार्य

विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व

❋

लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : १९.०० रुपये

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ संख्या**

१. विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व	३
२. ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण व विधान	१५
३. अंतःचेतना से उद्भूत सुव्यवस्था	२८
४. भाव-संवेदनाओं में व्यक्त विश्वात्मा	४२
५. सभी संतानों से समान प्यार	५६
६. प्राणी जगत् की अतृप्त प्यास—प्रेम	७४
७. सद्भाव संपन्नता विकसित चेतना का प्रमाण	९१

ईश्वर रूठा हुआ नहीं है कि उसे मनाने को मनुहार करनी पड़े। रूठा तो अपना स्वभाव और कर्म है, मनाना उसी को चाहिए। अपने आप से ही प्रार्थना करें कि कुचाल छोड़ें। मन को मना लिया—आत्मा को उठा लिया, तो समझना चाहिए ईश्वर की प्रार्थना सफल हो गई और उसका अनुग्रह उपलब्ध हो गया।

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर का अस्तित्व एक ऐसा विवादास्पद प्रश्न है, जिसके पक्ष और विपक्ष में एक से एक जोरदार तर्क-वितर्क दिये जा सकते हैं। तर्क से सिद्ध हो जाने पर न किसी का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है और 'सिद्ध' न होने पर भी न कोई अस्तित्व अप्रमाणित बन जाता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास उसकी नियम व्यवस्था के प्रतिनिष्ठा और आदर्शों के प्रति आस्था में फलित होता है, उसी का नाम आस्तिकता है। यों कई लोग स्वयं को ईश्वर विश्वासी मानते बताते हैं, फिर भी उनमें आदर्शों व नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव होता है। ऐसी छद्म आस्तिकता के कारण ही ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगता है। नास्तिकतावादी दर्शन द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये व सिद्धांत प्रतिपादित किये जाते हैं, वे इसी छद्म नास्तिकता पर आधारित हैं।

आस्तिकवाद मात्र पूजा-उपासना की क्रिया-प्रक्रिया नहीं है, उसके पीछे एक प्रबल दर्शन भी जुड़ा हुआ है, जो मनुष्य की आकांक्षा, चिंतन-प्रक्रिया और कर्म-पद्धति को प्रभावित करता है। समाज, संस्कृति, चरित्र, संयम, सेवा, पुण्य परमार्थ आदि सत्प्रवृत्तियों को अपनाने से व्यक्ति की भौतिक सुख-सुविधाओं में निश्चित रूप से कमी आती है, भले ही उस बचत का उपयोग लोक-कल्याण में कितनी ही अच्छाई के साथ क्यों न होता हो ? आदर्शवादिता के मार्ग पर चलते हुए, जो प्रत्यक्ष क्षति होती है उसकी पूर्ति ईश्वरवादी स्वर्ग, मुक्ति, ईश्वरीय प्रसन्नता आदि विश्वासों के आधार पर कर लेता है। इसी प्रकार अनैतिक कार्य करने के आकर्षण सामने आने पर वह ईश्वर के दंड से डरता है। नास्तिकवादी के लिए न तो पाप के दंड से डरने की जरूरत

रह जाती हैं और न पुण्य परमार्थ का कुछ आकर्षण रहता है। आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करने और शरीर की मृत्यु के साथ आत्यंतिक मृत्यु हो जाने की मान्यता, उसे यही प्रेरणा देती है कि जब तक जीना हो अधिकाधिक मौज-मजा उड़ाना चाहिए। यही जीवन का लाभ और लक्ष्य होना चाहिए।

उपासना से भक्त को अथवा भगवान् को क्या लाभ होता है ? यह प्रश्न पीछे का है। प्रधान तथ्य यह है कि आत्मा और परमात्मा की मान्यता मनुष्य के चिंतन और कर्तृत्व को एक नीति नियम के अंतर्गत बहुत हद तक जकड़े रहने में सफल होती है। इन दार्शनिक-बंधनों को उठा लिया जाये तो मनुष्य की पशुता कितनी उद्धत हो सकती है और उसका दुष्परिणाम किस प्रकार समस्त संसार को भुगतना पड़ सकता है ? इसकी कल्पना भी कँपा देने वाली है।

निःसंदेह युग के महान् दार्शनिकों में से रूसो और मार्क्स की भाँति ही फ्रैडरिक नीत्से की भी गणना की जाये। इन तीनों ने ही समय की विकृतियों को और उनके कारण उत्पन्न होने वाली व्यथा-वेदनाओं को सहानुभूति के साथ समझने का प्रयत्न किया है। अपनी मनःस्थिति के अनुरूप उपाय भी सुझाये हैं। अपूर्ण मानव के सुझाव भी अपूर्ण ही हो सकते हैं। कल्पना और व्यवहार में जो अंतर रहता है, उसे अनुभव के आधार पर क्रमशः सुधारा जाता है। यही उपरोक्त प्रतिपादनों के संबंध में भी प्रयुक्त होना चाहिए, हो भी रहा है।

शासनतंत्र पिछले दिनों निरंकुश राजाओं और सामंतों के हाथ चल रहा था, उनके स्वेच्छाचार का दुष्परिणाम निरीह प्रजा को भुगतना पड़ता था, प्रजातंत्र का, तदुपरांत साम्य तंत्र का विकल्प सामने आया। बौद्धिक जगत् में ईश्वर की मान्यता सबसे पुरानी और सबसे सबल और लोक-समर्थित होने के कारण बहुत प्रभावशाली रही थी। वह मानव तंत्र को दिशा देने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित करती है किंतु दुर्भाग्य यह है कि

ईश्वरवाद के नाम पर भ्रांतियों का इतना बड़ा जाल-जंजाल खड़ा कर दिया गया है, जिससे आस्तिकवादी दर्शन का मूल प्रयोजन ही नष्ट हो गया। निहित-स्वार्थों ने भावुक जनता का शोषण करने में कोई कसर न रखी। इतना ही नहीं अनैतिक और अवांछनीय कार्यों को भी, ईश्वर की प्रसन्नता के लिए, करने के विधान बन गये। राजतंत्र की दुर्गति ने जिस प्रकार रूसो और मार्क्स को उत्तेजित किया ठीक वैसी ही चोट ईश्वरवाद के नाम पर चले रही विकृतियों ने नीत्से को पहुँचाई।

उसने अनीश्वरवाद का नारा बुलंद किया और जनमानस पर से ईश्वरवाद की छाया उतार फेंकने के लिए तर्कशास्त्र और भावुकता का खुलकर प्रयोग किया। उसने जन-चेतना को उद्‌बोधन करते हुए कहा—'ईश्वर की सत्ता मर गई, उसे दिमाग से निकाल फेंको, नहीं तो शरीर पूरी तरह गल जायेगा। स्वयं को ईश्वर के अभाव में जीवित रखने का अभ्यास डालो। अपने पैरों पर खड़े होओ। अपनी उन्नति आप करो और अपनी समस्याओं का समाधान आप ढूँढो। अपने 'सत्' को अपनी इच्छा शक्ति से स्वयं जगाओ और उसे ईश्वर की सत्ता के समकक्ष प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रस्तुत करो। अतिमानव बनने की दिशा में बढ़ो पर जमीन से पाँव उखाड़कर, आसमान में मत उड़ो। वस्तुस्थिति की उपेक्षा कर, कल्पना के आकाश में उड़ोगे, तो तुम्हारा भी वही हस्र होगा, जो ईश्वर का हुआ है।

जहाँ तक घोषणा की बात थी, वह मनुष्य की विपर्ययवादी मनोवृत्ति को बहुत भाई और उनके प्रतिपादन खूब पढ़े गये। उन पर घर-घर में चौराहे-चौराहे पर चर्चा हुई। किसी ने भला कहा, किसी ने बुरा माना। जो हो—इस प्रतिपादन ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। सर्वत्र उसमें पूछा जाने लगा—'यदि ईश्वर नहीं रहा तो उसका स्थानापन्न कौन बनेगा ? जीवन का लक्ष्य क्या रहेगा ? संस्कृति किस आधार पर टिकेगी ? मर्यादाओं की रक्षा कैसे होगी ? समाज का बिखराव कैसे रुकेगा ? धर्म और नीति को

किसका आश्रय मिलेगा ? प्रेम परमार्थ में किसे, क्यों रुचि रहेगी ?' यही प्रश्न भीतर से भी उभरे। कुछ दिन तो हेकड़ी से वह यही कहता रहा—'जो सत्य है वह असत्य नहीं हो सकता। समस्याओं की आशंका से यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता। ईश्वर तो मर ही गया है, अब अपनी समस्याएँ स्वयं सुलझाओ।'

नीत्से की विचारकता क्रमशः अधिकाधिक गंभीरतापूर्वक यह स्वीकार करती ही चली गई कि ईश्वर भले ही मर गया हो, पर स्थान रिक्त होने से जो शून्यता उत्पन्न होगी, उसे सहज ही न भरा जा सकेगा। उद्देश्य, आदर्श और नियंत्रण हट जाने से मनुष्य जो कर गुजरेगा वह ईश्वरवादी भ्रांतियों की अपेक्षा दुःखदायी ही सिद्ध होगा।

नीत्से ने उसका समाधान कारक उत्तर 'अतिमानव' का लक्ष्य सामने प्रस्तुत करके दिया है। मनुष्य को अपनी इच्छा शक्ति इतनी प्रखर बनानी चाहिए, जो उसके व्यक्तित्व को अति-मानव स्तर का बना सके। यह निखरा हुआ व्यक्ति इतना प्रचंड होना चाहिए कि जन-प्रवाह के साथ बहती हुई विकृतियों पर नियंत्रण स्थापित करने के साधन जुटा सके। मनुष्य जीवन का लक्ष्य 'अतिमानव' के रूप में विकसित होना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन में उसे इतनी इच्छा शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए, जो संकल्पों के मार्ग में आने वाले हर प्रतिरोध का निराकरण कर सके। सामाजिक जीवन में उसे इतना प्रतिभाशाली और साधन संपन्न होना चाहिए कि प्रचलित अवांछनीयताओं पर नियंत्रण कर सकने की क्षमता का अभाव अखरे नहीं।

अनीश्वरवाद का पूरक अतिमानववाद दशाब्दियों तक बहुचर्चित रहा। इस उभय-पक्षी प्रतिपादन ने एक रिक्तता पूरी कर दी और नीत्से का अनीश्वरवादी दर्शन विधि-निषेध की उभयपक्षीय आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाला समझा गया। उसे विचारकों ने समग्र की उपमा दी।

अनीश्वरवाद का पृष्ठ पोषण भौतिक विज्ञान ने यह कहकर किया कि ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जो प्रकृति के प्रचलित नियमों से आगे तक जाता हो। इस उभयपक्षीय पुष्टि ने मनुष्य की उच्छृंखल अनैतिकता पर और भी अधिक गहरा रंग चढ़ा दिया, तदनुसार वह मान्यता एक बार तो ऐसी लगने लगी कि 'आस्थाओं का अंत' वाला समय अब निकट ही आ पहुँचा। 'अतिमानववाद' के अर्थ का भी अनर्थ हुआ और योरोप में हिटलर, मुसोलिनी जैसे लोगों के नेतृत्व में नृशंस 'अतिमानवों' की एक ऐसी सेना खड़ी हो गई, जिसने समस्त संसार को अपने पैरों तले दबोच लेने की हुँकार भरना आरंभ कर दिया।

खोट, प्रजातंत्र और साम्यतंत्र की तरह अनीश्वरवाद में भी है। इसका उचित समाधान बहुत दिन पहले वेदांत के रूप में ढूँढ़ लिया गया है। तत्त्वमसि, सोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानंब्रह्म—सूत्रों के अंतर्गत आत्मा की परिष्कृत स्थिति को ही परमात्मा माना गया है। इतना ही नहीं, इच्छा शक्ति को, मनोबल और आत्मबल को—प्रचंड करने के लिए तप-साधना का उपाय भी प्रस्तुत किया गया है। वेदांत अतिमानव के सृजन पर पूरा जोर देता है। मनोबल प्रखर करने की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। ईश्वरवाद का खंडन किसी विज्ञ जीव को ईश्वर स्तर तक पहुँचा देने की वेदांत मान्यता बिना रिक्तता उत्पन्न किये बिना अनावश्यक उथल-पुथल किये वह प्रयोजन पूरा कर देती है, जिसमें ईश्वरवाद के नाम पर प्रचलित विडंबनाओं का निराकरण करते हुए अध्यात्म मूल्यों की रक्षा की जा सके।

बुद्धिवाद अगले दिनों वेदांत दर्शन को परिष्कृत अध्यात्म के रूप में प्रस्तुत करेगा। तब 'अतिमानव' की कथित दार्शनिक मान्यताएँ अपूर्ण लगेंगी और प्रतीत होगा कि इस स्तर का प्रौढ़ और परिपूर्ण चिंतन बहुत पहले ही पूर्णता के स्तर तक पहुँच चुका है।

● विराट् का प्रतिनिधि जीव

जिस चेतना को विराट् विश्व ब्रह्मांड़व्यापी माना जाता है, जीव उसी का एक अंश, एक घटक है। जीवात्मा का, परमात्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा परमात्मा का प्रतीक अंश किस प्रकार है ? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए **केनोपनिषद्** में ऋषि ने एक बहुत मार्मिक बात कही है, जिज्ञासु पूछता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः,
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ,
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो-युनक्ति।

अर्थात्—मन किसकी प्रेरणा से दौड़ाया हुआ दौड़ता है ? किसके द्वारा प्रथम प्राण-संचार संभव हुआ ? किसकी चाही हुई वाणी मुख बोलता है ? कौन देवता देखने और सुनने की व्यवस्था बनाता है ?

मन अपने आप कहाँ दौड़ता है ? आंतरिक आकांक्षाएँ ही उसे जो दिशा देती हैं, उधर ही वह चलता है, दौड़ता है और वापस लौट आता है। यदि मन स्वतंत्र चिंतन में समर्थ होता तो उसकी दिशा एक ही रहती। सबका सोचना एक ही तरह होता, सदा-सर्वदा एक ही तरह का चिंतन बन पड़ता, पर लगता है—पतंग की तरह मन का उड़ाने वाला भी कोई और है, उसकी आकांक्षा बदलते ही मस्तिष्क की सारी चिंतन-प्रक्रिया उलट जाती है। मन एक पराधीन उपकरण है—वह किसी दिशा में स्वेच्छापूर्वक दौड़ नहीं सकता। उसके दौड़ाने वाली सत्ता जिस स्थिति में रह रही होगी, चिंतन की धारा उसी दिशा में बहेगी। मन को दिशा देने वाली मूल सत्ता का नाम 'आत्मा' है।

दूसरे प्रश्न में जिज्ञासा है कि माता के गर्भ में पहुँचने पर प्रथम प्राण कौन स्थापित करता है ? उसमें जीवन-संचार के रूप में हलचलें कैसे उत्पन्न होती हैं ? रक्त-मांस तो जड़ हैं। जड़ में

चेतना कैसे उत्पन्न हुई ? यहाँ भी उत्तर वही है—यह आत्मा का कर्तृत्व है। भ्रूण अपने आप में कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं। माता-पिता की इच्छानुसार संतान कहाँ होती है ? पुत्र चाहने पर कन्या गर्भ में आ जाती है। जिस आकृति-प्रकृति की अपेक्षा, उससे भिन्न प्रकार की संतान जन्म लेती है। इसमें माता-पिता का प्रयास भी कहाँ सफल हुआ, तब भ्रूण को चेतना प्रदान करने का कार्य कौन करता है ? उपनिषद्कार इस प्रश्न के उत्तर में आत्मा के अस्तित्व को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है।

मृत शरीर में प्राण संचार न रहने से उसके भीतर वायु भरी होने पर भी साँस को बाहर निकालने की सामर्थ्य नहीं होती। श्वास-प्रश्वास प्रणाली यथावत् रहने पर भी प्राण-स्पंदन नहीं होता। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान प्राणों द्वारा शरीर और मन के विभिन्न क्रियाकलाप संचालित होते हैं, पर महाप्राण के न रहने पर शरीर में उनका स्थान और कार्य सुनिश्चित होते हुए भी सब कुछ निश्चल हो जाता है। अंगों की स्थिति यथावत् रहते हुए भी जिस कारण मृत शरीर जड़वत् निःचेष्ट हो जाता है, वह महाप्राण का प्रेरणा क्रम रुक जाना ही है। इस सूत्र संचालक महाप्राण को ही 'आत्मा' कहते हैं।

तीसरा प्रश्न उत्पन्न होता है, किसकी चाही हुई वाणी मनुष्य बोलते हैं ? निःसंदेह यह कार्य मुख का नहीं है। शरीर और इंद्रियों का भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो भूखा होने पर पात्र-कुपात्र के आगे समय-कुसमय का ध्यान रखे बिना भोजन याचना की जाती। कामुक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी शील-संकोच को आड़े न आने दिया गया होता। पर शरीर और मन की आवश्यकताओं को बहुधा रोककर रखा जाता है। अंतःकरण क्षुब्ध होने पर मुख से कटु वचन निकलते हैं और उत्कृष्ट स्थिति में अमृतोपम वाणी निःसृत होती है। यदि वाणी स्वतंत्र होती तो वह तोता की तरह अभ्यस्त शब्दों का ही उच्चारण करती रहती। वाणी से विष और अमृत, ज्ञान और

अज्ञान निःसृत करने वाली अंतःचेतना उससे पृथक् स्वतंत्र है—उसी का नाम 'आत्मा है।

आँखें किसकी प्रेरणा से देखती हैं ? कान किसकी इच्छानुसार सुनते हैं ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए यह देखा जा सकता है ? कि क्या आँखों में देखने की या कानों में सुनने की स्वतंत्र शक्ति है। निश्चित रूप से वह नहीं ही है। यदि होती तो मृतक या मूर्च्छित स्थिति में भी आँखें देखतीं और कान सुनते। ध्यान मग्न होने की स्थिति में आँखों के आगे से गुजरने वाले दृश्य भी परिलक्षित नहीं होते और कानों के समीप ही बातचीत होते रहने पर भी कुछ सुना नहीं जाता। अनेक दृश्यों में से आँखें अपने प्रिय विषय पर ही टिकती हैं। कई तरह की आवाज होते रहने पर भी कान उन्हीं पर केंद्रित होते हैं, जो अपने को प्रिय हैं। इन ज्ञान-प्रधान कान और चक्षु इंद्रियों में अपनी निज की क्रियाशीलता नहीं है। जिसकी प्रेरणा से वे सक्रिय रहते हैं, वह सत्ता 'आत्मा' की ही है।

यथार्थ ज्ञान के शोधकर्ता इंद्रिय ज्ञान से ऊपर उठकर आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं और फिर उससे ऊँची परमात्म सत्ता में अपने आपको विलीन करते हुए ऊपर उठते हैं और अमृत को प्राप्त करते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए उपनिषद्कार कहता है—

'अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'

अर्थात्—आत्म-ज्ञानी, धीर पुरुष इंद्रियों के प्रेरक जीवात्मा का अतिक्रमण करके इस लोक से अर्थात् जन-साधारण के द्वारा अपनाये गये निकृष्ट स्तर से ऊपर उठकर अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

यहाँ अमृतत्व का अर्थ है—अनंत जीवन की मान्यता और तदनुरूप दृष्टिकोण अपनाकर, तदनुरूप चिंतन एवं कर्तृत्व का निर्धारण लोग अपने को मरणधर्मा मानते हैं, तात्कालिक लाभों को अवांछनीय होते हुए भी उन्हें ही सब कुछ समझकर टूट पड़ते हैं

और भविष्य को भूलकर उसे अंधकारमय बनाते हैं। खाओ, पियो, मौज उड़ाओ। कर्ज लेकर मद्यपान करते रहो की नीति अपनाकर लोभ, मोह में ग्रसित वासना, तृष्णा के लिए आतुर मनुष्यों का दृष्टिकोण मरण-धर्मा है। उसे अपनाने वाले जीवित मृतक हैं। इसके विपरीत जो अनंत जीवन का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए आज कष्ट उठाने की तपश्चर्या का स्वागत करते हैं, वे दूरदर्शी विवेकवान् अमर कहलाते हैं। अमृतत्व का प्राप्त होना इसी परिष्कृत दृष्टिकोण को अपनाने के साथ जुड़ा हुआ है।

हम हैं और इंद्रियों को प्रेरणा देने वाले हैं—इंद्रियों के कारण हम चैतन्य नहीं, वरन् हमारे कारण इंद्रियों में चेतना है, यह जान लेने पर आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा पर मल आवरण विक्षेप के कषाय-कल्मष चढ़ जाने से वह मलीन बनता है और दीन, दयनीय दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति में पड़ा-जकड़ा दुःख भोगता है। मलीनता की इन आवरण-परतों को उतार फेंकने पर उसका निर्मल स्वरूप प्रकट होने लगता है। दर्पण पर जमी हुई धूलि हटा देने से उसमें अपना प्रतिबिंब सहज ही देखा जा सकता है।

आत्म-साक्षात्कार इसी का नाम है—इसे ही परमात्मा का दर्शन एवं परब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं। आँखों से किसी देवावतार के स्वरूप को देखने की लालसा एक भ्रांति मात्र हैं—जिसका पूरा हो सकना संभव नहीं। ईश्वर को चर्म-चक्षुओं से नहीं, ज्ञान चक्षुओं से ही देखा जा सकता है।

आत्मा का परिष्कृत रूप ही परमात्मा है। जीवात्मा, वह जो लोभ, मोह से—वासना, तृष्णा से प्रभावित होकर स्वार्थपरता एवं संकीर्णता के बंधनों में जकड़ा पड़ा है। अपना चिंतन, कर्तृत्त्व शरीर और कुटुंब के भौतिक लाभों तक सीमित रखने वाला भव-बंधनों में जकड़ा जीव है। मुक्त उसे कहा जायेगा जिसने अपनेपन की, आत्मभाव की परिधि को अधिकाधिक विस्तृत बना लिया है, जिसके लिए समस्त विश्व अपना परिवार है। समस्त

प्राणी जिसके अपने कुटुंबी हैं। औरों के दुःख को अपना दुःख मानकर, जो उसके निराकरण का प्रयास करता है। औरों को सुख देकर सुखी होता है। अपने और औरों के बीच की दीवार तोड़कर सर्वत्र एक ही आत्मा का विस्तार देखता है, वह दिव्यदर्शी ही दूसरे शब्दों में परमात्मदर्शी कहा जाता है। आत्मा का परिष्कृत एवं विकसित रूप ही परमात्मा है। इसे प्राप्त करनां ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

● आत्मा परमात्मा से कैसे मिले ?

मनुष्य की चेतन सत्ता में मूलतः वह क्षमता मौजूद है, जिसके सहारे वह अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का समुचित उपयोग कर सके। यह क्षमता उसने खो दी है। वह प्रसुप्त, विस्मृत एवं उपेक्षित गर्त में पड़ी रहती है। किसी काम नहीं आती। इसके बिना प्रगति रथ किसी भी दिशा में महत्त्वपूर्ण यात्रा कर नहीं पाता। मात्र जीवन निर्वाह क्रम पूरा होते रहने भर का लाभ उस क्षमता से उठा सकना संभव होता है। यह उस प्रचंड क्षमता का एक अत्यंत स्वल्प अंश है। विपुल रत्न भंडार के अधिपति को मात्र पेट भरने और तन ढकने जितने साधन उपलब्ध हो सके, तो यह उसके लिए दुर्भाग्य की ही बात है। इस स्थिति का अंत करके स्वसंपदा का ज्ञान और उपयोग कर सकना आत्म-विज्ञान की सहायता से संभव है। योगाभ्यास की टार्च और तपश्चर्या की कुदाली लेकर, अपनी इसी पैतृक-संपदा को उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है।

व्यामोह ही भव-बंधन है। भव-बंधनों में पड़ा हुआ प्राणी कराहता रहता है और हाथ-पैर बँधे होने के कारण प्रगति पथ पर बढ़ सकने में असमर्थ रहता है। व्यामोह को माया कहते हैं। माया का अर्थ है—नशे जैसी खुमारी; जिसमें एक विशेष प्रकार की मस्ती होती है। साथ ही अपनी मूल स्थिति की विस्मृति भी जुड़ी रहती है। संक्षेप में विस्मृति और मस्ती के समन्वय को नशे की

पीनक कहा जा सकता है, चेतना की इसी विचित्र स्थिति को माया, मूढ़ता, अविद्या, भव-बंधन आदि नामों से पुकारा जाता है।

शरीर के साथ जीव का अत्यधिक तादात्म्य बन जाना ही आसक्ति एवं माया है। होना यह चाहिए कि आत्मा और शरीर के साथ स्वामी-सेवक का, शिल्पी-उपकरण का भाव बना रहे। जीव समझता रहे कि मेरी स्वतंत्र सत्ता है। शरीर रूप वाहन, साधन, प्रगति यात्रा की सुविधा भर के लिए मिले हैं। साधन की सुरक्षा उचित है, किंतु शिल्पी अपने को अपने सृजन-प्रयोजन को भूलकर उपकरणों से खिलवाड़ करते रहने में सारी सुधि-बुधि खोकर तल्लीन बन जाय तो यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण ही होगी। तीनों शरीर तीन बंधनों में बँधते हैं। स्थूल शरीर इंद्रिय-लिप्सा में, वासना में। सूक्ष्म शरीर (मस्तिष्क) संबंधियों तथा संपदा के व्यामोह में। कारण शरीर अहंता के आतंक फैलाने वाले उद्धत प्रदर्शनों में। इस प्रकार तीनों शरीर तीन बंधनों में बँधते हैं और आत्मा उन्हीं में तन्मय रहने की स्थिति में स्वयं ही भव-बंधनों में बँध जाती है। यह लिप्सा-लालसाएँ इतनी मादक होती हैं कि जीव उन्हें छोड़कर, अपने स्वरूप एवं लक्ष्य को ही विस्मृति के गर्त में फेंक देता है। वेणुनाद पर मोहित होने वाले मृग बधिक के हाथों पड़ते हैं। पराग-लोलुप भ्रमर कमल में कैद होकर दम घुटने का कष्ट सहता है। दीपक की चमक से आकर्षित पतंगे की जो दुर्गति होती है, वह सर्वविदित है। लगभग ऐसी ही स्थिति व्यामोह ग्रसित जीव की भी होती है। उसे इस बात की न तो इच्छा उठती है और न फुरसत होती है कि अपने स्वरूप एवं लक्ष्य को पहचाने। उत्कर्ष के लिए आवश्यक संकल्प शक्ति जगाई जा सकती तो इन महान् प्रयोजन के लिए मिली हुई विशिष्ट क्षमताओं को भी खोजा जगाया जा सकता था, किंतु उसके लिए प्रयत्न कौन करें ? क्यों करे ? जब विषयानंद की ललक ही मदिरा की तरह नस-नस पर छाई हुई है तो ब्रह्मानंद की बात कौन सोचे ? क्यों सोचे ?

इस दुर्गति में पड़े रहने से आज का समय किसी प्रकार कट भी सकता है, पर भविष्य तो अंधकार से ही भरा रहेगा। विवेक की एक किरण भी कभी चमक सके तो उसकी प्रतिक्रिया परिवर्तन के लिए तड़पन उठने के रूप में होगी। प्रस्तुत दुर्दशा की विडंबना और उज्ज्वल भविष्य की संभावना का तुलनात्मक विवेचन करने पर निश्चित रूप से यही उमंग उभरेगी कि परिवर्तन के लिए साहस जुटाया जाय। इसी उभार के द्वारा अध्यात्म जीवन में प्रवेश और साधना प्रयोजनों का अवलंबन आरंभ होता है।

परिवर्तन का प्रथम चरण है, बंधनों का शिथिल करना। आकर्षणों के अवरोधों से विमुख होना। आसक्ति को वैराग्य की मनःस्थिति में बदलना। इसके लिए कई तरह के समयपरक उपायों का अवलंबन करना पड़ता है। साधना रुचि परिवर्तन की प्रवृत्ति को उकसाने से आरंभ होती है। इस संदर्भ में महर्षि पातंजलि का कथन है।

बन्धकारणैशैथिल्यात्प्रचापवेदनाच्च।
चित्तस्य परशरीरावेशः।।

—योग दर्शन ३-३८

बंधनों के कारण ढीले हो जाने पर चित्त की सीमा, परिधि और संवेदना व्यापक हो जाती है।

सबमें सर्वत्र एक ही परमात्म सत्ता की झाँकी करने पर, सर्वत्र एक ही चेतना व्याप्त दिखाई देने पर स्वाभाविक ही व्यक्ति का हृदय विकसित होगा। वह सबको अपना और स्वयं को सबका मानेगा, समझेगा। ऐसी स्थिति में कोई संकीर्ण स्वार्थों के लिए क्यों कर कोई अनुचित आचरण करेगा और क्यों संकीर्ण स्वार्थ की परिधियों में अपने को संकुचित सीमित करने के लिए तैयार होगा ? आस्तिकवाद का ईश्वरवाद का यही वास्तविक और असली परिणाम तथा आवश्यकता है। इसके बिना शांति, सुव्यवस्था और सच्ची प्रगति संभव नहीं हो सकती।

❐ ❐

ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण व विधान

भगवान् मनु ने कहा है—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानसिसृष्टया।

—मनु० १।७४-७५,

सृष्टि के आरंभ में परमात्मा ने अपनी इच्छा शक्ति से मन (जीवों) को उत्पन्न किया।

सृष्टि की हलचल की ओर ध्यान जमाकर देखें तो यह सत्य ही प्रतीत होगा कि इच्छाओं के कारण ही लोग या जीव क्रियाशील हैं, यह इच्छाएँ अनेक भागों में बँटी हुई हैं— (१) दीर्घ-जीवन की इच्छा, (२) कामेच्छा, (३) धन की इच्छा, (४) मान की इच्छा (५) ज्ञान की इच्छा, (६) न्याय की इच्छा और (७) अमरत्व या आनंद प्राप्ति की चिर तृप्ति या मोक्ष। इन सात जीवन धाराओं में ही संसार का अविरल प्रवाह चलता चला आ रहा है। इन्हीं की खटपट, दौड़-धूप, ऊहापोह में दुनिया भर की हलचल मची हुई है, इच्छाएँ न हों तो संसार में कुछ भी न रहे।

इन इच्छाओं की शक्ति से ही सूर्य, अग्नि और आकाश की रचना हुई है। देखने और सुनने में यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है, किंतु वस्तुस्थिति यह है कि जब हम शोक, क्रोध, काम या प्रेम आदि किसी भी स्थिति में होते हैं, तो शारीरिक परमाणुओं में अपनी-अपनी विशेषता वाली गति उत्पन्न होती है। परमाणु जो एक ही पदार्थ या चेतना की अविभाज्य स्थिति में होते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पंदित होते रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि शरीर की हलचल इच्छाओं पर आधारित है।

अभी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या मूल चेतना में अपने आप इच्छाएँ व्यक्त करने की शक्ति है। इस बात को वर्तमान

वैज्ञानिक उपलब्धियों से भली प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जिन्होंने विज्ञान का थोड़ा भी अध्ययन किया होगा, उन्हें ज्ञात होगा कि जड़ पदार्थ (मैटर) को शक्ति (एनर्जी) अथवा विद्युत् (इलेक्ट्रिसिटी) में बदल दिया जाता है। इस बात का पता पदार्थ की अति सूक्ष्म अवस्था में पहुँचकर हुआ। हम जानते हैं कि पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणु भी अंतिम स्थिति न होकर उनमें भी इलेक्ट्रॉन तथा 'प्रोटॉन' आवेश होते हैं। प्रोटॉन परमाणु का केंद्र है और इलेक्ट्रॉन उस केंद्र के चारों ओर घूमते रहते हैं। यह दोनों अंश छोटे-छोटे टुकड़े नहीं हैं वरन् यह धन और ऋण आवेश (इलेक्ट्रिसिटी) हैं, दोनों की सम्मिलित प्रक्रिया का नाम ही परमाणु है। इस दृष्टि से देखें तो यह पता चलेगा कि संसार में जड़ कुछ है ही नहीं। जगत् का मूल तत्त्व विद्युत् है और उसी के प्रकंपन (वाइब्रेशन्स) द्वारा स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव होता है। छोटे-छोटे पौधों, वृक्ष एवं वनस्पति से लेकर पहाड़, समुद्र, पशु-पक्षी रंग-रूप और अग्नि-वायु, शीत-ग्रीष्म आदि सब विद्युत् चेतना के ही कार्य हैं। एक ही शक्ति सब पदार्थों के मूल में है। सृष्टि के आविर्भाव से पूर्व एक ही तत्त्व था, यह बात इतने से ही साबित हो जाती है।

कृषि विज्ञान के बहुत-से पंडितों ने पदार्थों के अंदर पाये जाने वाले गुण सूत्रों (क्रोमोसोम) में परिवर्तन करके, उनकी नस्लों में भारी परिवर्तन करने में सफलता पाई है। दिल्ली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जी० आर० राव ने मकोय के गुण सूत्रों पर 'कोल्चीसाइन' क्रिया के द्वारा प्रभाव डालकर, उसे टमाटर की-सी नस्ल में परिवर्तित कर दिया। संकर से हीरा बनाया गया है, पर वह वास्तविक हीरे से महँगा पड़ता है। इससे भी यही जान पड़ता है कि स्वार्थ की मौलिक चेतना विघटित और संगठित होकर नये-नये पदार्थों का निर्माण कर लेती है। यहाँ वह लगेगा कि यह प्रयोग मानवकृत है, फिर मूल-तत्त्व की अपनी इच्छा का क्या महत्त्व रहा ?

वैज्ञानिक यह बताते हैं कि परमाणु में इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते-लगाते एकाएक अपना स्थान बदल देता है, जिसका कोई कारण नहीं होता, उसका यह स्थान परित्याग कार्यकरण सिद्धांत (लॉ ऑफ काजेशन) से परे होता है, अर्थात् विद्युत् जहाँ एक बद्ध-तत्त्व है, वहाँ उसकी अपनी इच्छा और चेतनता भी है, भले ही वह विद्युत् तत्त्व से कोई सूक्ष्मतर स्थिति हो और अभी उसका अध्ययन एवं जानकारी वैज्ञानिकों को नहीं हो पाई हो। इस मौलिक स्वाधीनता को 'लॉ ऑफ इनडिटरमिनेसी' के नाम से पुकारा जाता है और उसी के आधार पर अब वैज्ञानिक भी कहने लगे हैं कि विश्व की सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से संबद्ध-परस्पर अवलंबित और एक ही संगठन में पिरोई हुई हैं। प्रकृति में पूर्ण व्यवस्था और नियमबद्धता है और वह सब किसी विश्वव्यापी, स्वेच्छाचारी शक्ति के ही आधीन है।

हम उसका स्वरूप भले ही समझ न पाते हों पर उस सत्ता के अस्तित्व को इनकार नहीं कर सकते। उसी ने अपनी इच्छा से धरती में पुरुष तत्त्व को पैदा किया। जब अनेक इच्छाएँ जीवधारियों के रूप में उत्पन्न हुईं तो उसमें शक्ति और इच्छा-बल के कारण परस्पर संघर्ष हुआ। एक जीव दूसरे को खाने और सताने लगा। उससे थोड़े ही दिन में सृष्टि का अंत दिखलाई देने पर ईश्वरीय सत्ता को किसी सर्वशक्तिसंपन्न जीवधारी के उत्पन्न करने की कल्पना सूझी होगी। मनुष्य का आविर्भाव उसी इच्छा का परिणाम लगता है। मनुष्य में ही वह क्षमता है, जो उपरोक्त सातों इच्छाओं के क्रम और अनुशासन, न्याय एवं व्यवस्था बनाये रख सकता है, क्योंकि उसके लिए प्रत्येक उचित शक्ति भगवान् ने उसे दी है, जो और कुछ किसी भी प्राणी को नहीं दी। यदि मनुष्य इस बात को भावनाओं की गंभीरता में उतरकर, समझता नहीं और स्वयं भी पाशविक आचरण करता है, उसे उस योनि में जाने का दंड विधान अनुचित नहीं है। उत्तराधिकार में पाये हुए साम्राज्य और

शक्तियों को मनुष्य जैसा विवेकशील प्राणी अपने स्वार्थ में लगाये और विश्व व्यवस्था या ईश्वरीय आदेश का पालन न करे तो यह दंड मिलना उचित ही है।

विश्व व्यवस्था, प्रकृति मर्यादा को ही ईश्वरीय विधान कहा जाता है ? अब तो विज्ञान भी इस नियम-विधान की पुष्टि करने लगा है।

● ईश्वर एक व्यवस्था नियम

विज्ञान क्षेत्र के युग ऋषि आइन्स्टाइन ने ईश्वर के अस्तित्व संबंधी प्रश्नों का उत्तर देते हुए एक भेंटकर्त्ता से कहा था—"मेरी दृष्टि में ईश्वर इस संसार में संव्याप्त एक महान् नियम है। मेरी मान्यता के अनुसार ईश्वरीय सत्य-अंतिम सत्य है। यों उसका स्पष्ट रूप निर्धारित कर सकना आज की स्थिति में अत्यंत कठिन है। इसकी खोज जारी है। अंतिम सत्य की खोज ही विज्ञान का परम लक्ष्य है। अपने मार्ग पर चलते हुए विज्ञान ने जो तथ्य ढूँढ़े और सत्य स्वीकार हैं, उन्हें देखते हुए भविष्य में और बड़े सत्यों का रहस्योद्‌घाटन होता रहेगा। यह कार्य वैज्ञानिक शोध-पद्धति से ही संभव है।

'सिद्धांतों, यंत्रों और आविष्कारों में विज्ञान झाँकता भर दिखाई देता है। उन्हें उसकी उपलब्धियाँ भर कह सकते हैं। वस्तुतः विज्ञान एक जीवंत प्रवृत्ति है, जो सत्य की शोध को अपना लक्ष्य मानती है। भले ही इसके फलस्वरूप पूर्व मान्यताओं पर आँच आती हो अथवा किसी वर्ग विशेष का हित-अनहित होता हो। सत्य को सत्य ही रहना चाहिए। विज्ञान की दृष्टि में ईश्वर 'सत्य' है। उसकी साधना को सत्य की खोज कह सकते हैं। इस प्रकार विज्ञान को अपने ढंग का 'आस्तिक' और उसकी शोध-साधना को ईश्वर उपासना कहा जा सकता है।

आइन्स्टाइन के मतानुसार पदार्थ एवं जीवन का स्वरूप समझना ही नहीं, उनका दूरदर्शितापूर्ण सदुपयोग करने का उपाय

सोचना भी विज्ञान क्षेत्र में आता है। तत्त्व-दर्शन को विज्ञान की एक शाखा मानते हैं और जीवन क्षेत्र में रुचि रखने वालों को परामर्श देते हैं— "जिज्ञासा को जीवंत रखो और सोचो कि तुम क्या कर रहे हो ? श्रेष्ठ व्यक्ति बनने का प्रयत्न करो। बिना दिये पाने का प्रयत्न मत करो। श्रेष्ठ व्यक्ति जीवन से अथवा व्यक्तियों से जितना लेता है, उनसे अनेक गुना, उन्हें वापिस करने के प्रयत्न में लगा रहता है।"

केनोपनिषद् के ऋषि ने परब्रह्म की व्याख्या आइन्स्टाइन से मिलती-जुलती ही की है। उसका प्रतिपादन है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षषिँ्‌ पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोतमिदँ्‌ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्मा त्वं नेदं यदिदमुपासते।।

अर्थात् परब्रह्म ऐसा कोई विचारणीय पदार्थ नहीं, जिसे मन द्वारा ग्रहण किया जा सके। वह तो ऐसा तथ्य है जिसके आधार पर मन को मनन शक्ति प्राप्त होती है। उस परम तत्त्व की सामर्थ्य से ही मन को मनन कर सकने की क्षमता प्राप्त होती है। वह परब्रह्म ही नेत्रों को देखने की, कानों को सुनने की, प्राणों को जीने की शक्ति प्रदान करता है। परब्रह्म ऐसा नहीं है जिसे इंद्रियों से देखना और मन से समझना संभव हो सके। वह सर्वांतर्यामी और निरपेक्ष है। वह कोई देवता नहीं है और न वैसा है, जिसकी परब्रह्म नाम से उपासना की जाती है।

मुंडकोपनिषद् के ऋषि का अभिमत भी इसी से मिलता-जुलता है। उनका कथन है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा-
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं
पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।

अर्थात् आँखों से, जीभ से अथवा अन्य इंद्रियों से उसे जाना नहीं जा सकता। मात्र तप और कर्मकांड भी उसकी अनुभूति नहीं कराते। जिसका मन पवित्र और शांत है, वह निर्मल ज्ञान की सहायता से गंभीर ध्यान का आश्रय लेकर, उसकी प्रतीति कर सकता है।

ज्ञान और अंतर्ज्ञान के अंतर एवं कार्य क्षेत्र संबंधी पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में आइन्स्टाइन ने कहा था—"ज्ञान आवश्यक है। उसी के सहारे दैनिक क्रियाकलापों का संचालन और निर्णयों का निर्धारण होता है। फिर भी अंतर्ज्ञान का अपना क्षेत्र और अस्तित्व है।"

हमारा मस्तिष्क मात्र वहीं तक सहारा देता है, जहाँ तक कि उसकी जानकारी है अथवा तर्क की उड़ान उड़ती है; लेकिन एक स्थिति ऐसी भी आती है, जहाँ चेतना उछलकर किसी ऐसे स्थान पर जा पहुँचती है, जहाँ मस्तिष्क के सहारे पहुँच सकना कठिन है। संसार के महान् आविष्कार इसी रहस्यमयी अंतःप्रज्ञा के आधार पर संभव हुए हैं। वहाँ से उनको प्रकाश मिला है। प्रमाणित करने वाले अन्वेषण का कार्य तो यह प्रकाश मिलने के उपरांत आरंभ होता है।

ज्ञान उपलब्धि के तीन प्रसंग हैं—एक वह जो माता की गोदी से लेकर परिवार एवं संपर्क क्षेत्र की गतिविधियों के आधार पर संचित होता है और स्वभाव का अंग बनता है। दूसरा वह जो स्कूली तथा व्यवहार क्षेत्र में अनेकों अध्यापकों द्वारा प्रशिक्षण के रूप में प्राप्त होता रहता है। तीसरा अंतिम चरण वह है, जो जिसमें आत्मबोध होता है। जीवन का स्वरूप, उद्देश्य एवं उपयोग

मस्तिष्क की जानकारी तक सीमित न रहकर, जब आस्था बनकर परिपुष्ट होता है, तब उसे आत्मबोध कहते हैं। यह वह उपलब्धि है, जिसे पाकर एक सामान्य-सा राजकुमार महान् बुद्ध के रूप में, साक्षात भगवान् बन गया था। इस तत्त्व की छोटी मात्रा मनुष्य को अपने साथियों की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा और कहीं अधिक सफल बनाती है। ज्ञान की भूमिका का यह तीसरा चरण आत्म साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन के रूप में माना गया है। आत्मा का एकाकी अस्तित्व आदर्शविहीन और नीरस ही रह जाता है, उसमें सरसता का संचार ईश्वर समन्वय से ही संभव होता है। आत्मज्ञान और ब्रह्म ज्ञान को एक ही तथ्य को उद्‌बोधक माना गया है। ईश्वर विश्वास के साथ जुड़ा हुआ आत्म-विश्वास, जब विकसित होता है तो उस पर उच्च स्तरीय आदर्शवादिता छाई रहती है। यह आच्छादन सामान्य दृष्टि से भले ही नगण्य-सा प्रतीत होता हो, पर उसका प्रतिफल क्रमशः अधिकाधिक श्रेष्ठ, फलदायक सिद्ध होता चला जाता है।

जीवन की हर परिस्थिति में ईश्वर विश्वास सहायक होता है, वह असंतुलन को संतुलन में बदलता है। निराशा के क्षणों में उसकी वह ज्योति चमकती है, जिसे दीनबंधु, भक्त-वत्सल, अशरण-शरण आदि नामों से पुकारते हैं और मातृ तुल्य वात्सल्य प्रदान करने की, अंचल में आश्रय देने की कल्पना करते हैं। सफलताओं के साथ-साथ एक उन्मादी अहंकार आता है, जिसमें स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति पनपती है और मर्यादाओं की नीति-नियमों की चिंता न करते हुए स्वार्थ-साधना एवं अहमन्यता की पूर्ति के लिए कुछ भी कर गुजरने को उच्छृंखलता अपनाता है, तो उसे आस्तिकता की भावना ही डराती है। वह कहती है—यहाँ स्वेच्छाचार की किसी को भी छूट नहीं है। सबके ऊपर एक नियामक शक्ति मौजूद है और कर्मफल की दंड व्यवस्था भी मौजूद है, जो इतनी कठोर है कि मर्यादा तोड़ने वाले को भली प्रकार सबक सिखा सकती है। भगवान् की भयानकता से डरकर

उच्छृंखलता पर बहुत कुछ नियंत्रण होता रहता है। आस्तिकता में ईश्वर के गुणानुवादों का कथन, श्रवण, मनन, चिंतन जुड़ा हुआ है। ईश्वर सद्‌गुणों का पुंज है, पवित्रता, करुणा, ममता, उदारता जैसी सद्‌भावनाएँ ईश्वरीय अनुकंपा के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाली विभूतियाँ हैं। इस मान्यता से ईश्वर सान्निध्य के लिए—उपासना आदि प्रयास करते हुए मनुष्य अधिकाधिक चरित्रनिष्ठ और समाजनिष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। समाजनिष्ठ को धार्मिकता और सभ्यता कहते हैं। चरित्रनिष्ठा का दर्शन अध्यात्म कहलाता है, उसी का दूसरा नाम संस्कृति भी है। इन्हीं के आधार पर मनुष्य प्रामाणिक और पराक्रमी बनता है। प्रगति के यही दो चरण हैं, जिनके सहारे लोग भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं। ईश्वर की मान्यता का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में सदाशयता और शालीनता की अभिवृद्धि में ही दृष्टिगोचर होता है। यों बुराइयाँ तो आस्तिकों में भी पाई जाती हैं, पर नास्तिकता अपना लेने पर तो मनुष्य उन मर्यादा का उल्लंघन के संबंध में और भी अधिक निर्भय हो जाता है। संभावनाओं की दृष्टि से देखा जाये तो आस्तिक की तुलना में नास्तिक के अनाचार मार्ग पर चल पड़ने की संभावना है। श्रेष्ठ मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले के लिए ईश्वर विश्वास एक सुयोग्य एवं सुसंपन्न साथी की तरह सहायक सिद्ध होता है, वह सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहन ही नहीं, वरन् सहायता के आश्वासन भी देता है। इन दोनों आंतरिक उपलब्धियों के सहारे चलने वाले का साहस प्रतिकूलताओं के बीच अविचल बना रहता है। नास्तिक ऐसी किसी सहायता की आशा नहीं करता, साथ ही अपनी दुर्बलताओं एवं कठिनाइयों को देखता रहता है। ऐसी दशा में उसे ऐसी अंतःस्फुरणा का लाभ नहीं मिलता, जो अग्रगमन के लिए अनुकूल साधनों से भी अधिक मूल्यवान् होती है।

बुद्धि की एक सीमा है। प्रत्येक प्राणी को वह उसकी आवश्यकता के अनुरूप ही मिली है। उसके आधार पर चेतना के

परतों को समझना तो दूर पदार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से आगे की—उसकी सूक्ष्म क्षमताओं तक की पूरी जानकारी नहीं हो सकी। प्रकृति के अनेक रहस्यों को जानने में मनुष्य ने आश्चर्यजनक सफलता पाई है, पर अभी जो जाना गया है—उसकी तुलना में अविज्ञात का विस्तार अत्यधिक है। प्रकृति के नये-नये रहस्यों का उद्‌घाटन आये दिन होता रहता है। यह क्रम आगे भी चलता रहेगा, किंतु इस भौतिक जगत् की सूक्ष्मतम परिस्थितियों को पूर्णतया जान सकना कभी भी संभव न हो सकेगा; क्योंकि प्रकृति के विस्तार की तुलना में मानवी बुद्धि की एक सीमा और मर्यादा है, उससे आगे बढ़ सकना उसके लिए संभव नहीं है।

इस संदर्भ में दार्शनिक विज्ञानवेत्ता हिटक ने अपनी पुस्तक 'साइंटिफिक रोमांसेज' में प्राणियों की बुद्धि सीमाबंधन के कितने ही उदाहरण दिये हैं ? वे आँख से न दीख सकने वाले एक जीव 'माइक्रोव' का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि उसे केवल लंबाई-चौड़ाई की दो दिशाओं का ही ज्ञान है। ऊँचाई से वह परिचित नहीं है। उसे समतल फर्श पर रखा ज़ाय तो वह चलता ही रहेगा, किंतु यदि आगे कोई तख्ती खड़ी कर दी जाय तो रुक भर जायेगा। उसका कारण न समझ सकेगा और न उससे बच निकलने का कोई उपाय ही करेगा। यदि तख्ती हटा दी जाये, तो फिर चलने लगेगा; किंतु उस अवरोध के खड़े होने या हटने से उसकी गति पर क्यों प्रभाव पड़ा ? इसका कुछ भी कारण न समझ सकेगा। तख्ती खड़ी होने या हटने के क्रियाकलाप के संबंध में कोई कल्पना तक कर सकना उसके लिए संभव न होगा। इतने पर भी माइक्रोव के अतिरिक्त अन्य प्राणी यह तो स्वीकार नहीं ही करेंगे कि ऊँचाई का कोई आयाम नहीं होता। लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई के तीन आयाम सर्वविदित हैं। चौथा आयाम बुद्धि का भी है। बुद्धि की भी एक सीमा-मर्यादा है। वह न तो असीम है, न ही सर्वज्ञ है। हर प्राणी की आवश्यकता को देखते

हुए प्रकृति ने उसे कामचलाऊ मात्रा में उस उपहार से सुसज्जित किया है। उसमें घट-बढ़ भी एक सीमित मात्रा में ही हो सकती है। मानसिक अपंगों की बात दूसरी है।

कर्मफल न चाहते हुए भी मिलते हैं। कोई नहीं चाहता कि उसे अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दंड मिले। कोई नहीं चाहता कि पुरुषार्थ के अनुपात से ही सफलता मिले। हर कोई दुःख से बचना और सुख का अधिकाधिक लाभ पाना चाहता है, पर यह इच्छा कहाँ पूरी होती है ? नियामक शक्ति द्वारा पदार्थों की तरह ही प्राणियों पर भी अंकुश रखा जाता है और जहाँ भी वे आलस्य-प्रमाद बरतते हैं, वहीं असफलताओं की, पिछड़ेपन की हानि उठाते हैं। व्यवस्था तोड़ते ही ठोकर खाते और दंड पाते हैं। विष खाना और पानी में कूदना अपने हाथ की बात है, पर उसके दुष्परिणामों से बच सकना कभी-कभी संयोगवश ही होता है। अपनी ही चेतना की सूक्ष्म परतों में ऐसी व्यवस्था 'फिट' है कि वह कुविचारों, कुकर्मों का प्रतिफल स्वसंचालित पद्धति से अपने आप ही प्रस्तुत करती रहती है। इसे झुठलाना या इससे बच निकलना भी किसी के हाथ में नहीं। देर तो होती है, पर अंधेर की तनिक भी गुंजायश नहीं है। आज के कर्मों का फल कल मिले, इसमें देरी तो हो सकती है, किंतु कुछ भी करते रहने और मनचाहे प्रतिफल पाने की छूट किसी को भी नहीं है। उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन की प्रक्रिया से सभी को असुविधा अनुभव होती है। सभी सुविधाजनक स्थिति में स्थिर रहना चाहते हैं, पर सृष्टि क्रम के आगे किसी की मर्जी नहीं चलती। इस व्यवस्था-प्रवाह को ईश्वर समझा जा सकता है।

अंतःकरण में एक ऐसी शक्ति काम करती है, जो सन्मार्ग पर चलने से प्रसन्न, संतुष्ट हुई दिखाई पड़ती है और कुपंथ अपनाने पर खिन्नता, उद्विग्नता का अनुभव करती है। अंतरात्मा की इसी परत में ईश्वर झाँकता हुआ देखा जा सकता है।

मानव जीवन में समता, सहयोग, शिक्षा, साहस, चरित्र और सुरक्षा जैसे उच्चस्तरीय तत्त्वों के अभिवर्धन की आवश्यकता है। यह मनःस्थितियाँ भी हैं और परिस्थितियाँ भी। इन्हें आस्थाओं की गहराई में प्रवेश करने के लिए जिस दर्शन की आवश्यकता है, वह आस्तिकता का ही हो सकता है। निजी और तात्कालिक संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाकर ही सामाजिक और आदर्शवादी मूल्यों का परिपोषण हो सकता है। प्रत्यक्षवाद का दबाव यह रहता है कि अपना सामयिक स्वार्थ सिद्ध किया जाये, भले ही उसके फलस्वरूप भविष्य में अपने को ही हानि उठानी पड़े अथवा सार्वजनिक अहित करना पड़े। इस पशु प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने से ही मानवी आदर्शों की नींव रखी जा सकती है। इस स्तर की आस्थाएँ उत्पन्न करने में आस्तिकतावादी दर्शन से बढ़कर और कोई मनोवैज्ञानिक स्थापना नहीं हो सकेगी। देश-भक्ति, समाजनिष्ठा, अतिमानव आदि के कितने ही विकल्प इसके लिए रखे गये और प्रयुक्त होते रहे हैं, पर उनमें बौद्धिकता अधिक और आध्यात्मिकता स्वल्प रहने से आस्था न बन सकी और नीति के रूप में जो जाना-माना गया था, वह संचित कुसंस्कारों की पशु-प्रवृत्ति के सामने ठहर न सका। मानव जीवन की गरिमा और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आस्थाओं की है। आस्तिकता का मूलभूत आधार उसी स्तर की आस्थाएँ उत्पन्न करना है।

● ईश्वर का प्रेम किनके लिए ?

आस्तिकता के इस मूलभूत आधार को जिन्होंने अपनी जीवन शैली बनाया, उनके जीवन व क्रियाकलापों को परमार्थनिष्ठा का आदर्श कहा जा सकता है। परमार्थ का अर्थ ही यह है कि जिससे सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन की पूर्ति होती हो। इसी कारण परमार्थ परायणता को आस्तिकता का आधार दर्शन कहा जा सकता है।

परमार्थ बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है, जिस किसी के लिए भी किया जाता है, वह लौटकर उस करने वाले के पास ही पहुँचता है। तुम्हारी यह आकांक्षा वस्तुतः अपने आपको प्यार करने, श्रेष्ठ मानने और आत्मा के सामने आत्म समर्पण करने के रूप में ही विकसित होगी। दर्पण में सुंदर छवि देखने की प्रसन्नता—वस्तुतः अपनी ही सुसज्जा की अभिव्यक्ति है। दूसरों के सामने अपनी श्रेष्ठता प्रकट करना उसी के लिए संभव है, जो भीतर से श्रेष्ठ है। प्रभु की राह पर बढ़ाया गया हर कदम अपनी आत्मिक प्रगति के लिए किया गया प्रयास ही है। जो कुछ औरों के लिए किया जाता है वस्तुतः वह अपने लिए किया हुआ कर्म ही है। दूसरों के साथ अन्याय करना अपने साथ ही अन्याय करना है। हम अपने अतिरिक्त और किसी को नहीं ठग सकते। दूसरों के प्रति असज्जनता बरतकर, अपने आपके साथ ही दुष्ट-दुर्व्यवहार किया जाता है।

दूसरों को प्रसन्न करना अपने आपको प्रसन्न करने का ही क्रियाकलाप है। गेंद को उछालना अपनी मांसपेशियों को बलिष्ठ बनाने के अतिरिक्त और क्या है ? गेंद को उछालकर हम उस पर कोई एहसान नहीं करते। इसके बिना उसका कुछ हर्ज नहीं होगा। यदि खेलना बंद कर दिया जाये, तो उन क्रीड़ा के उपकरणों की क्या क्षति हो सकती है ? अपने को ही बलिष्ठता के आनंद से वंचित रहना पड़ेगा।

ईश्वर रूठा हुआ नहीं है कि उसे मनाने की मनुहार करनी पड़े। रूठा तो अपना स्वभाव और कर्म है। मनाना उसी को चाहिए, अपने आप से ही प्रार्थना करें कि कुचाल छोड़े। मन को मना लिया, आत्मा को उठा लिया तो समझना चाहिए ईश्वर की प्रार्थना सफल हो गई और उसका अनुग्रह उपलब्ध हो गया।

गिरे हुओं को उठाना, पिछड़े हुओं को आगे बढ़ाना, भूले को राह बताना और जो अशांत हो रहा है उसे शांतिदायक स्थान पर पहुँचा देना। यह वस्तुतः ईश्वर की सेवा ही है। जब हम दुःख

और दरिद्रता को देखकर व्यथित होते हैं और मलीनता को स्वच्छता में बदलने के लिए बढ़ते हैं, तो समझना चाहिए कि यह कृत्य ईश्वर के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए ही किए जा रहे हैं। दूसरों की सेवा, सहायता अपनी ही सेवा सहायता है।

प्रार्थना उसी की सार्थक है जो आत्मा को परमात्मा में घुला देने के लिए व्याकुलता लिए हुए हो। जो अपने को परमात्मा जैसा महान् बनाने के लिए तड़पता है, जो प्रभु को जीवन के कण-कण में घुला लेने के लिए बेचैन है। जो उसी का होकर जीना चाहता है, उसी को भक्त कहना चाहिए। दूसरे तो विदूषक हैं। लेने के लिए किया हुआ भजन वस्तुतः प्रभु-प्रेम का निर्मम उपहास है। भक्ति में तो आत्म समर्पण के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। वहाँ देने की ही बात सूझती है, लेने की इच्छा ही कहाँ रहती है ?

ईश्वर का विश्वास, सत्कर्मों की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। जो भगवान् पर भरोसा करेगा, वह उसके विधान और निर्देश को भी अंगीकार करेगा, भक्ति और अवज्ञा का तालमेल बैठता कहाँ है ?

हम अपने आपको प्यार करें, ताकि ईश्वर से प्यार कर सकने योग्य बन सकें। हम अपने कर्तव्यों का पालन करें, ताकि ईश्वर के निकट बैठ सकने की पात्रता प्राप्त कर सकें। जिसने अपने अंतःकरण को प्यार से ओत-प्रोत कर लिया, जिसके चिंतन और कर्तृत्व में प्यार बिखरा पड़ता है। ईश्वर का प्यार केवल उसी को मिलेगा, जो दीपक की तरह जलकर प्रकाश उत्पन्न करने को तैयार है, प्रभु की ज्योति का अवतरण उसी पर होगा। ईश्वर का अस्तित्व विवाद का नहीं, अनुभव का विषय है। जो उस अस्तित्व का जितना अधिक अनुभव करेगा, उतना ही प्रकाशपूर्ण उसका जीवन होता जायेगा।

अंतः चेतना से उद्भूत सुव्यवस्था

मनुष्य शरीर 'परमात्मा की' अनुपम और अद्वितीय-अद्भुत कलाकृति है। इस कलाकृति की संरचना का अध्ययन किया जाए तो सहज ही यह विदित हो जायेगा कि मनुष्य शरीर कितना जटिल, सुव्यवस्थित और सुनियोजित कार्यप्रणाली पर निर्भर है ? इतनी जटिल संरचना और उससे अधिक कार्यप्रणाली बिना किसी बाहरी नियंत्रणकर्ता नियामक के अपने आप सुचारु रूप से संपन्न होती रहती है। मनुष्य का स्वस्थ शरीर-आरोग्य, आहार-विहार पर निर्भर करता है। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने वाला निरोग रहता है और असंयम बरतने वाले, अखाद्य खाने वाले बीमार पड़ते हैं। बीमारियों के कारण रोग-कीटाणुओं के रूप में, ऋतु प्रभाव या धातुओं-तत्त्वों के हेर-फेर में ढूँढे जाते हैं और उसी आधार पर चिकित्सा की जाती है। पर कई बार इन मान्यताओं को झुठलाते हुए ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि अप्रत्याशित रूप से शरीर के किन्हीं अवयवों का या प्रवृत्तियों का यकायक घटना बढ़ना शुरू हो जाता है। कारण ढूँढ़ते हैं तो समझ में नहीं आता, अँधेरे में ढेला फेंकने की तरह कुछ उपचार किया जाता है, तो उसका कुछ परिणाम नहीं निकलता।

ऐसी परिस्थितियाँ प्रायः हारमोन ग्रंथियों में गड़बड़ी आ जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। शरीर के सामान्य अवयवों की संरचना और उसकी कार्यपद्धति का ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता आया है, इसलिए रोगों के कारण और निवारण के संबंध में काफी प्रगति भी हुई है। पर यह अंतःस्रावी ग्रंथियों की आश्चर्यचकित करने वाली हरकतें जब से सामने आई हैं, तब से चिकित्साविज्ञानी स्तब्ध रह गये हैं, प्रत्यक्षतः शरीरगत क्रियाकलाप में इनका कोई सीधा उपयोग नहीं है। वे किसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति

नहीं करतीं, चुपचाप एक कोने में पड़ी रहती हैं और वहीं से तनिक-सा स्राव बहा देती हैं। यह स्राव भी पाचन अंगों द्वारा नहीं, सीधा रक्त से जा मिलता है और अपना जादू जैसा प्रभाव छोड़ता है।

हारमोन, शरीर और मन पर कितने ही प्रकार के प्रभाव डालते और परिवर्तन करते हैं। उनमें से एक परिवर्तन कामवासना का, मानसिक जागरण, और यौन अंगों की प्रजनन क्षमता भी सम्मिलित है।

छोटी उम्र के लड़की और लड़के लगभग एक जैसे लगते हैं। कपड़ों से, बालों से उनकी भिन्नता पहचानी जा सकती है, अन्यथा वे साथ-साथ हँसते, खेलते-खाते हैं, कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं पड़ता, पर जब बारह वर्ष से आयु ऊपर उठती है तो दोनों में काफी अंतर अनायास ही उत्पन्न होने लगता है। लड़के की आवाज भारी होने लगती है। दाढ़ी, मूँछें आने लगती हैं और कोमल अंग कठोर होने लगते हैं। लड़कियाँ शरमाने लगती हैं, उनके कुछ अंगों में उभार आने लगता है और नये किस्म की इच्छाएँ तथा कल्पनाएँ मन में घुमड़ने लगती हैं।

यह 'हारमोन' स्रावों की करतूत है। वे समय-समय पर ऐसे उठते-जगते हैं, मानो किसी घड़ी में अलार्म लगाकर रख दिया हो अथवा टाइम बम को समय के काँटे के साथ फिट करके रखा हो। यौवन उभार के संबंध में इन्हीं के द्वारा सारा खेल रचा जाता है। अन्य सारा शरीर अपने ढंग से ठीक काम करता रहे, पर यदि इन हारमोन ग्रंथियों का स्राव न्यून हो तो यौवन अंग ही विकसित न होंगे और यदि किसी प्रकार विकसित हो भी जाएँ तो उनमें वासना का उभार नहीं होगा, न कामेच्छा जाग्रत् होगी, न उस क्रिया में रुचि होगी। संतानोत्पादन तो होगा ही कैसे ?

साधारणतया कामोत्तेजना का प्रसंग १५-१६ वर्ष की आयु से आरंभ होकर ६० वर्ष पर जाकर लगभग समाप्त हो जाता है। स्त्रियों का मासिक धर्म बंद हो जाने पर लगभग पचास वर्ष की

आयु में उनकी वासनात्मक शारीरिक क्षमता और मानसिक आकांक्षा दोनों ही समाप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार साठ वर्ष पर पहुँचते-पहुँचते पुरुष की इंद्रियाँ एवं आकांक्षाएँ भी शिथिल और समाप्त हो जाती हैं। यह सामान्य क्रम है। पर कई बार हारमोनों की प्रबलता इस संदर्भ में आश्चर्यजनक अपवाद प्रस्तुत करती है। बहुत छोटी आयु के बच्चे भी न केवल पूर्ण मैथुन में वरन् सफल प्रजनन में भी समर्थ देखे गये हैं। उसी प्रकार शताधिक आयु हो जाने पर भी वृद्ध व्यक्तियों में इस प्रकार की युवावस्था जैसी परिपूर्ण क्षमता पाई गई है।

लिंग भेद से संबंधित हारमोनों में गड़बड़ी पड़ जाय तो नारी की मूँछें निकल सकती हैं। पुरुष बिना मूँछ का हो सकता है तथा दोनों की प्रवृत्तियाँ भिन्न लिंग जैसी हो सकती हैं। नारी पुरुष की तरह कठोर व्यवहार करने वाली और नर जनखों जैसे स्त्री स्वभाव का हो सकता है। यौन-आकांक्षाएँ भी विपरीत वर्ग जैसी हो सकती हैं। इतना ही नहीं, कई बार तो इन हारमोनों का उत्पात ऐसा हो सकता है कि प्रजनन अंगों की बनावट ही बदल जाये। ऐसे अनेक आपरेशनों के समाचार समय-समय पर सुनने को मिलते रहते हैं, जिनमें नर से नारी की और नारी से नर की जननेंद्रियों का विकास हुआ और फिर शल्य-क्रिया द्वारा उसे तब तक के जीवन की अपेक्षा भिन्न लिंग का घोषित किया गया। इस नई परिस्थिति के अनुसार उन्होंने साथी ढूँढ़े, विवाह किये और गृहस्थ बनाये।

हिप्पोक्रेट्स ने इस तरह की विपरीत वर्गीय कुछ घटनाएँ देखी थीं और उनका कारण समझने का प्रयत्न किया था। चिकित्सक प्लिनी ने एक ऐसे सात वर्ष के लड़के का वर्णन लिखा है, जो लैंगिक दृष्टि से पूर्ण विकसित हो गया था।

८ जनवरी सन् १९१० को दो चीनी बच्चों ने सामान्य बालकों को जन्म दिया। जिसमें माता की उम्र ८ वर्ष और पिता की ९ वर्ष की थी। संसार में यह सबसे छोटे माता-पिता हैं।

अमोय फूकेन प्रांत का यह कृषक परिवार 'साद' नाम से पुकारा जाता है। इस परिवार में ऐसे ही बाल प्रजनन के और भी उदाहरण हैं।

कलावार (अफ्रीका) में भी कुछ समय पूर्व ऐसी ही घटना घटित हुई थी। वहाँ एक्क्री नामक एक नीग्रो की आठ वर्षीय पत्नी ने आठ वर्ष चार मास की आयु में ही प्रसव किया और एक बालिका को जन्म दिया, आश्चर्य यह और देखिये कि वह बच्ची भी अपनी माँ की तरह आठ वर्ष की आयु में ही माँ बन गई। इस प्रकार उमजी को १७ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते दादी बनने का अवसर प्राप्त हो गया।

सूडान में सन् १९८० में एक नौ वर्ष की लड़की माँ बनी है, उसका पति १० वर्ष का है। यह समाचार सन् १९८० में प्रायः सभी समाचार पत्रों में छपा था।

जौरा आगा नामक टर्की के एक दीर्घजीवी वृद्ध पुरुष की आयु सन् १९२७ में १५३ वर्ष की थी। उस समय उसने अपना ग्यारहवाँ विवाह किया था। उससे पूर्व १० स्त्रियों और २७ बच्चों को वह अपने हाथों कब्र में सुला चुका था। उसके जीवित बच्चे ७० से ऊपर थे।

लिंग-परिवर्तन की घटनाओं में यही होता है। मनुष्य की आकांक्षाएँ और अभिरुचियाँ जिधर गतिशील होती हैं, उसी तरह की लिंग मनोभूमि बनती चली जाती है। कोई नारी यदि नर के प्रति अत्यधिक आसक्त होती है, उसी के सान्निध्य एवं चिंतन में निरत रहती है तो उसका अंतःकरण उसी ढाँचे में ढलता और तादात्म्य होता चला जायेगा। कालांतर में वह आकांक्षा उसे स्वयं नर के रूप में परिणत कर सकती है। इसी प्रकार कोई नर यदि नारी के चिंतन और सान्निध्य में अतिशय रुचि लेता है तो उसकी चेतना नारी वर्ग में परिणत होने लगेगी और वह उस प्रवृत्ति की तीव्रता के अनुरूप देर में या जल्दी लिंग-परिवर्तन कर लेगा। इसमें एकाध जन्म की देरी भी हो सकती है। लिंग-परिवर्तन की ऐसी

घटनाओं में जिनमें नारी नर के रूप में या नर नारी के रूप में परिणत किये गये, उनमें शारीरिक या मानसिक कारण नहीं होते वरन् अंतःचेतना का गहन स्तर—कारण शरीर ही इस प्रकार की पृष्ठभूमि विनिर्मित करता है। नपुंसक वर्ग की भी ऐसी ही स्थिति है। इसे परिवर्तन का मध्य स्थल कह सकते हैं।

समलिंगी आकर्षण से लेकर सहवास तक की अनेक घटनाएँ देखने-सुनने में आती रहती हैं। इसमें भी वह अतृप्त आंतरिक आकांक्षा ही उभरती है। दो नारी यदि नर रूप में विकसित हो रही होंगी, तो उनमें नर के प्रति आकर्षण की विद्यमान मात्रा स्त्री रति की अपेक्षा पुरुष रति में रस एवं तृप्ति अनुभव करेगी और उसमें परस्पर घनिष्ठता बढ़ती जायेगी। इसी प्रकार दो नर यदि नारी रूप में विकसित हुए हैं, तो उनका पूर्वाभ्यास नारी के प्रति आकर्षण बनाये रहेगा और वे दो नारियाँ परस्पर मिलन का अधिक आनंद अनुभव करेंगी। यह विपर्यय दोनों कारणों से हो सकता है। विकसित होती हुई आकांक्षा भी अपनी अतृप्ति का समाधान कर सकती है। इसी प्रकार विकास आगे चल पड़ा है। शरीर बदल गये हैं पर पूर्व मनोवृत्ति में भिन्न लिंग के संस्कार अभी भी प्रबल हैं, तो वे भी बार-बार वैसी ही उमंगें उठाकर, समलिंगी संपर्क में अधिक आकर्षण अनुभव कर सकते हैं।

गत वर्ष योरोप में ऐसे विवाहों को अदालत द्वारा भी मान्यता मिल चुकी है, जिनमें पति-पत्नी दोनों या तो नर ही थे या नारी ही नारी। यों ऐसे प्रसंग निजी और अप्रकट रूप में चलते तो रहते हैं पर पिछली न्यायिक परम्पराएँ तोड़कर, जिन्हें कानूनी मान्यता मिली हो ऐसे विवाह गत वर्ष ही सर्व साधारण के सामने आये हैं।

काम-वासना को ही लें, पुराने-जमाने में भस्में तथा रसायनें खिलाकर मृत या स्वल्प कामेच्छा को पुनर्जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। वह प्रयास भी नशे से उत्पन्न क्षणिक उत्तेजना जैसा ही सिद्ध हुआ। जब से हारमोन प्रक्रिया का ज्ञान हुआ है,

तब से यौन ग्रंथियों के रसों को पहुँचाने से लेकर बंदर एवं कुत्ते की ग्रंथियों का आरोपण करने तक का क्रम बराबर चल रहा है। आरंभ में उससे तत्काल लाभ दीखता है, पर वह बाहर का आरोपण देर तक नहीं ठहरता। भयंकर आपरेशनों के समय रोगी को अन्य व्यक्ति का रक्त दिया जाता है। वह शरीर में ३-४ दिन से अधिक नहीं ठहरता। शरीर यदि नया रक्त स्वयं बनाने लगे तो ही फिर आगे की गाड़ी चलती है। इसी प्रकार आरोपित स्राव अथवा रस ग्रंथियाँ तत्काल ही लाभ दिखावेंगी। यदि उस उत्तेजना से अपनी ग्रंथियाँ जाग्रत् होकर स्वतः काम करने लगें तो ही कुछ काम चलेगा अन्यथा वह बाहरी आरोपण की फुलझड़ी थोड़ी देर चमक दिखाकर बुझ जायेगी। अब तक के बाहरी आरोपण के सारे प्रयास निष्फल हो गये हैं। कुछ सप्ताह का चमत्कार देख लेने के अतिरिक्त उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध न हुआ।

सन् १८७६ में एक वृद्ध डॉक्टर ब्राउन सेक्वार्ड ने घोषणा की कि उसने कुत्ते का वृषण रस अपने शरीर में पहुँचाकर पुनः यौवन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली है। ७२ वर्षीय इस डॉक्टर की ओर अनेक चिकित्साशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने उनकी घोषणा को सच पाया, लेकिन यह सफलता स्थिर न रह सकी, वे कुछ ही दिन बाद पुनः पुरानी स्थिति में आ गये।

इंग्लैंड के डॉक्टर मूरे ने थायरोक्सिन का प्रयोग एक थायरायड विकारग्रस्त रोगिणी पर किया। दवा का असर बहुत थोड़े समय तक रहता था। कुछ वर्ष जीवित रखने के लिए एक-एक करके ८७० भेड़ों की ग्रंथियाँ निचोड़कर, उसे आये दिन लगानी पड़ती थीं। इस पर धक्का-मुक्की करके ही उसकी गाड़ी कुछ दिन और आगे धकेली जा सकी।

शरीरशास्त्रियों ने इस अद्भुत जीवनदायिनी तत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया तो उनकी पकड़ में अन्तःस्राव ग्रंथियाँ आ गईं। इनमें कुछ प्रधान हैं, कई उपप्रधान हैं। इनमें तनिक-तनिक से रस

स्त्रवित होते रहते हैं और वे रेंगकर रक्त में जा मिलते हैं, जिन्हें हारमोन कहते हैं। इनके भी कई भेद-उपभेद ढूँढ़े गये हैं। इतना सब होते हुए भी आश्चर्य का विषय है कि इनमें आखिर ऐसा क्या जादू है, जो शरीर की सामान्य व्यवस्था में इतनी भयानक उलट-पुलट वे करके रख देते हैं। स्वास्थ्य के साधारण नियमोपनियम एक ओर, इनकी मनमानी एक ओर, तथा इस रस्साकशी में सामान्य व्यवस्था लड़खड़ा जाती है और इन हारमोनों की मनमानी जीतती है। इन स्त्रावों का रासायनिक विश्लेषण करने पर वे सामान्य स्तर के ही सिद्ध होते हैं, उनमें कुछ ऐसी अनहोनी मिश्रित नहीं दीखती, जिससे ऐसे उथल-पुथल भरे परिणाम होने चाहिए। पर 'चाहिए' को ताक पर रखकर जब 'होता' है, सामने आता है, तो बुद्धि चकरा जाती है और इस अंधाधुंधी में हाथ पर हाथ डालकर बैठना पड़ता है।

जहाँ तक खोज का विषय है, उन अंतःस्त्रावी ग्रंथियों का, उनसे प्रवाहित होने वाले रसों का स्वरूप समझ लिया गया है और उनका रासायनिक विश्लेषण कर लिया गया है, पर उनकी असाधारण महत्ता और असाधारण हरकत का कुछ कारण नहीं जाना जा सका। इतना ही नहीं, उनके नियंत्रण का भी कोई उपाय हाथ नहीं लगा है। यह मोटा और भोंडा तरीका है कि उसी स्तर के रसायन बाहर से पहुँचाकर, उन स्त्रावों की कमी-वेशी के परिणामों को रोकने का प्रयत्न किया जाय। इतना ही बन पड़ा है, सो किया भी गया है। अन्य जीवों से प्राप्त करके अथवा रासायनिक पद्धति से विनिर्मित करके, उन रसों को व्यक्ति के शरीर में पहुँचाकर, यह प्रयत्न किया जाता है कि विकृतियों पर नियंत्रण किया जाय, उसका लाभ होता तो है पर रहता क्षणिक ही है। भीतर का उपार्जन बंद हो जाय, तो बाहर से पहुँचाई मदद कब तक काम देगी ? इसी प्रकार जमीन फोड़कर स्त्रोत निकल रहा हो, तो उसे एक जगह से बंद करने पर दूसरे छेद से फूटेगा। यह तो तात्कालिक या क्षणिक उपचार हुआ। बात तब

बनती है, जब उत्पादन के केंद्र स्वत: ही अपने स्रावों को घटा या बढ़ा लें। उपचार का उद्देश्य तो तभी पूरा हो सकता है, पर यह स्थिति हाथ नहीं आ रही है। शरीरशास्त्रियों के सारे प्रयत्न अब तक निष्फल ही रहे हैं और आगे भी इनकी अद्‌भुत संरचना और कार्य पद्धति को देखते हुए कुछ अधिक आशा नहीं बँधती।

ओछी भावनाएँ अंतरात्मा में जमी हों और छोटा बनाने वालों पर बड़प्पन के संस्कार जम जाएँ, तो शरीर को ही नहीं—मस्तिष्क को भी बड़ा बनाने वाले हारमोन उत्पन्न होंगे। इंद्रिय भोगों में आसक्त अंत: भूमिका अपनी तृप्ति के लिए कामोत्तेजक अंत: स्रावों की मात्रा बढ़ाती है। विवेक जाग्रत् हो और विषय भोगों की निरर्थकता एवं उनकी हानियों को गहराई से समझ लिया जाय, तो इन हारमोनों का प्रवाह सहज ही कुंठित हो जाता है। इसी प्रकार वियोग, विश्वासघात, अपमान जैसे आघात अंत:करण की गहराई तक चोट पहुँचा दें तो युवावस्था में भी भले चंगे हारमोन स्रोत सूख सकते हैं, इसके विपरीत यदि रसिकता की लहरें लहराती रहें तो वृद्धावस्था में भी वे यथावत् गतिशील रह सकते हैं। जन्मांतरों की रसानुभूति बाल्यावस्था में भी प्रबल होकर, उस स्तर की उत्तेजना समय से पूर्व ही उत्पन्न कर सकती हैं।

काम-क्रीड़ा शरीर द्वारा होती है, कामेच्छा मन में उत्पन्न होती है। पर इन हारमोनों की जटिल प्रक्रिया न शरीर से प्रभावित होती हैं और न मन से। उसका सीधा संबंध मनुष्य की अंत:चेतना से है, इसे आत्मिक स्तर कह सकते हैं। जीवात्मा में जमे काम बीज जिस स्तर के होते हैं, तदनुरूप शरीर और मन का ढाँचा ढलता और बनता-बिगड़ता है। हारमोनों को भी प्रेरणा-उत्तेजना वहीं से मिलती है।

धान के दाने के बराबर धूसर रंग की इस छोटी-सी ग्रंथि में आश्चर्य ही आश्चर्य भरे पड़े हैं। जिन चूहों में दूसरे चूहों की पीनियल ग्रंथि का रस भरा गया, वे साधारण समय की अपेक्षा आधे दिनों में ही यौन रूप में विकसित हो गये और जल्दी बच्चे

पैदा करने लगे। समय से पूर्व उनके अन्य अंग भी विकसित हो गये, पर इस विकास में जल्दी भर रही, मजबूती नहीं आयी। काम दहन की शिवजी की कथा की इन हारमोन से संगति अवश्य बैठती है, पर अंतःकरण का रुझान जिस स्तर का होगा, शरीर और मन को ढालने के लिए हारमोनों का प्रवाह उसी दिशा में बहने लगेगा।

● हारमोन ग्रंथियों के चमत्कार

इन ग्रंथियों की कार्य प्रणाली को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति ने इनका निर्माण उद्‌देश्यपूर्ण प्रयोजन से किया है तथा ये उसी परंपरा को कुशलतापूर्वक निबाह भी रही हैं, छोटी-सी आकार के गेहूँ के दाने के बराबर वाली इन ग्रंथियों का अपना निजी स्वार्थ लाभ क्या हो सकता है ? वस्तुतः ये प्रकृति व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सामर्थ्य भर योगदान देने के उद्‌देश्य से ही सक्रिय रहती दिखाई देती है।

इन ग्रंथियों की हल-चल, शरीर-संस्थान में उनकी भूमिका पर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया है। अवयवों की प्रत्यक्ष हलचलें ही शरीर विज्ञान की शोध का विषय रही हैं। अब तक जो शोधें हुई हैं, उनमें यह प्रत्यक्ष ही मूलभूत आधार है। इसलिए समझा जाता है कि पंचतत्त्वों से बना हुआ यह काया मात्र ही शरीर है, लेकिन शरीरगत अनेक संदर्भ ऐसे हैं, जिन पर रहस्य का पर्दा ही पड़ा हुआ है।

स्थूल शरीर पर सूक्ष्म-सत्ता का नियंत्रण हमें इन्हीं हलचलों के पीछे झाँकता हुआ दीखता है। अंतःस्रावी ग्रंथियाँ—वंशानुक्रम प्रक्रिया—भ्रूणावस्था में जीव का आत्यंतिक उग्र विकासक्रम, जीवकोषों की अद्‌भुत क्षमता, अचेतन मन की रहस्यमय गतिविधियाँ, भाव-संवेदना से उत्पन्न अदम्य प्रेरणा, अतींद्रिय अनुभूतियाँ, जीवाणुओं की स्वसंचालित जीवन पद्धति, प्रभावशाली तेजोवलय जैसे अनेकानेक संदर्भ ऐसे हैं, जिनका शरीर की

सामान्य संरचना के साथ कोई तालमेल नहीं बैठता। रासायनिक पदार्थों के अपने गुण, धर्म होते हैं। सम्मिश्रण से उनमें भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, किंतु ऐसे रहस्य उत्पन्न नहीं होते जैसे कि अनबूझ पहेलियों के रूप में सामने आते रहते हैं। इनके भौतिक समाधान अभी तक नहीं मिले हैं और न भविष्य में मिलने की संभावना है। इनके कारण हमें सूक्ष्म शरीर में ही खोजने होंगे।

अन्नमय कोश का वर्णन अपेक्षाकृत सूक्ष्म-संस्थानों के अंतर्गत आता है। इसमें रासायनिक हलचलों की उत्पन्न क्रिया-प्रक्रिया स्थूल शरीर के क्षेत्र में आती है। शरीरशास्त्रियों की खोजबीन यहीं तक सीमित है। स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए, चिकित्सा उपचार के लिए जो क्रियाकलाप चलते हैं, उन्हें भौतिक क्षेत्र की मर्यादा माना गया है। ऐसे अद्‌भुत रहस्य, जिनका तालमेल रासायनिक हलचलों से नहीं बैठता, उन्हें सूक्ष्म शरीर की शक्तिमत्ता का प्रभाव कहा जा सकता है। यह क्षेत्र अत्यंत सुविस्तृत है। उसका थोड़ा-सा परिचय जिन प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर प्राप्त हो सकता है, उनमें अंतःस्रावी हारमोन ग्रंथियों की भी गणना की जा सकती है। उनसे निकलने वाले राई-रत्ती स्राव शरीर में कितनी अद्‌भुत गतिविधियाँ संपन्न करते हैं, उन्हें देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

शरीर-विज्ञान की अंतरंग शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि हृदय, आमाशय, आँख, कान, त्वचा आदि तो यंत्र हैं। इन यंत्रों के संचालक सूक्ष्म अवयव अन्य ही होते हैं और उन संचालक तत्त्वों या अवयवों के स्वरूप पर ही हमारे स्वास्थ्य का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है। इन सूक्ष्म अवयवों में हारमोनों का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी सक्रियता-निष्क्रियता का हमारी शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों पर भारी प्रभाव पड़ता है। शरीर की आकृति कैसी भी हो, उसकी प्रकृति का निर्माण तो मुख्यतः इन हारमोन रसों से ही प्रभावित होता है। यद्यपि आकृति पर भी इन जीवनरस-स्रावों का प्रभाव पड़ता ही है। कई ऐसे उदाहरण

मिलते हैं कि विशेष मनःस्थिति के कारण किन्हीं युवतियों का रूप लावण्य तब तक बना रहा, जिस आयु में सामान्य रूप से शरीर पर वृद्धता के चिह्न उभर आते हैं। उनके बने रहने का रहस्य-सूत्र भी निश्चय ही इन हारमोन-स्रावों में छिपा हुआ माना जाता है। यद्यपि औषधि विद्या और शल्य-प्रक्रिया की पहुँच अभी वहाँ तक नहीं हो पाई है, पर उनके स्वरूप की कुछ-कुछ जानकारी तो आधुनिक शरीरशास्त्र को हो ही गई है।

हारमोन स्रावों के विशेष अनुसंधानकर्त्ता डॉ० क्रुकशेक ने इन स्रावों की आधार ग्रंथियों को 'जादुई ग्रंथियाँ कहा है और बताया है कि व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए इन स्रावों के संतुलन और क्रियाकलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकता है कि उसका स्तर एवं व्यक्तित्व सचमुच क्या है ?

हारमोन वे रासायनिक तत्त्व या रहस्यमय जीवन रस है, जो अंतःस्रावी ग्रंथियों द्वारा स्रावित होते हैं।

ग्रंथियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) बहिर्स्रावी ग्रंथियाँ या प्रणालीयुक्त ग्रंथियाँ (डक्ट या एम्सोक्राइन ग्लैड्स) (२) अंतःस्रावी या प्रणालीविहीन ग्रंथियाँ (इंडोक्राइन या डक्टलेस ग्लैड्स)।

(१) बहिर्स्रावी ग्रंथियाँ—इन ग्रंथियों से प्रत्येक के साथ एक नलिका मिली होती है। नलिका द्वारा ग्रंथियों का रस स्राव शरीर के रक्त प्रवाह में न मिलकर शरीर की ऊपरी सतह पर चला जाता है। इन रसों के द्वारा शरीर की अनेक जरूरतें पूरी की जाती हैं। प्रमुख बहिर्स्रावी ग्रंथियाँ तीन हैं—(१) अश्रु ग्रंथियाँ (टियर ग्लैड्स) (२) प्रस्वेद ग्रंथियाँ (स्वीट ग्लैड्स) (३) लार ग्रंथियाँ (सेलिवरी ग्लैड्स)।

(२) अंतःस्रावी ग्रंथियाँ—इन दिनों क्रोमोसोम्स तथा वंशानुक्रम की चर्चाएँ बहुत व्यापक रूप से उठा करती हैं। इन प्रक्रियाओं के मूल में अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव कुछ विशिष्ट हारमोन्स ही हैं। अब तक की शोधों के आधार पर अंतःस्रावी

ग्रंथियों के ८ केंद्र माने जाते हैं। यह शरीर के विभिन्न अंगों में अवस्थित हैं। जैसे—सिर में (१) पीनियलबाडी (२) पिट्यूटरी ग्लैंड है। गले में (३) पैराथाइराइड और (४) थाइराइड ग्लैंड होते हैं। वक्षस्थल के ऊपरी भाग में (५) थाइमस ग्लैंड स्थित है। उदर प्रदेश में (६) एड्रीनल ग्लैंड्स और (७) पैंक्रियाज ग्रंथियाँ हैं। पेडू क्षेत्र में (८) गोनेड्स ग्रंथियों का स्थान है।

इन ग्रंथियों की अद्भुत क्षमता के संबंध में अभी वैज्ञानिकों को पूरी जानकारी नहीं है। उनके बारे में सांकेतिक जानकारी ही प्राप्त हो सकी है। फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यदि इनके प्रभाव को जाना और नियंत्रित किया जा सके, तो मनुष्य अपने अंदर आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है।

उदाहरण के लिए गोनड्स ग्रंथियों को ही लिया जाय—ये कामवासना संबंधी ग्रंथियाँ होती हैं। इन्हें हम प्रजनन ग्रंथियाँ भी कह सकते हैं। पुरुष की प्रजनन ग्रंथियाँ, शुक्र ग्रंथियाँ या वृषण तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रंथियाँ, डिंबग्रंथियाँ या अंडाशय कहलाती हैं। पुरुष-सेक्स हारमोन की उत्पादिका वृषण-ग्रंथि नर में होती है। उसी से उसका पुरुषत्व जगता है। पुरुष आकृति में नारी से भिन्न करने वाले दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण प्रकट होते हैं। नारी में डिंबग्रंथियाँ गर्भाशय के दोनों छोरों पर होती हैं। इन स्त्री-गोनेड्स से अनेक स्राव निकलते हैं, जिनमें मुख्य हैं दो—(१) एस्ट्रोजेंस (२) प्रोजेस्ट्रोन।

शारीरिक विकास की दृष्टि से ये स्राव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियोचित कोमलता तथा गर्भधारण की क्षमता इन्हीं स्रावों से संबंधित है। लिंग-परिवर्तन की जो घटनाएँ घटित होती रहती हैं, वह इसी ग्रंथि के स्रावों की उल्टी-पुल्टी के परिणामस्वरूप होती हैं।

गोनेड्स (जनन ग्रंथियाँ) जननेंद्रिय हलचलों की क्षमता को तथा प्रजनन-शक्ति को नियंत्रित करती हैं। पुरुष यौवन और नारी यौवन का—विशेषतया प्रजनन संबंधी यौवन का इसी ग्रंथि से संबंध रहता है। वृद्धावस्था में आमतौर से शरीर बहुत शिथिल हो जाता है और इंद्रियाँ जवाब दे जाती हैं। फिर भी कई बार यह

आश्चर्य देखा गया है कि शताधिक आयु वाले व्यक्ति भी नवयुवकों की तरह प्रजनन क्रिया सफलतापूर्वक संपन्न करते रहते हैं। यह गोनेड्स ग्रंथियों के सशक्त बने रहने और समुचित यौन-हारमोन्स स्रावित होते रहने का ही परिणाम है।

मनःशास्त्री एडलर ने काम-प्रवृत्ति की शोध करते हुए पाया कि बाहर से अतीव सुंदर, आकर्षक और कमनीय दिखाई देने वाली अनेक महिलाएँ काम-शक्ति से सर्वथा रहित हैं। उनमें न तो रमणी प्रवृत्ति थी, न नारी सुलभ उमंग। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि यौन-हारमोन्स के स्रोत ही इन विशेषताओं के आधार हैं।

एडलर ने अपनी खोज के दौरान देखा कि कितने ही युवकों की शारीरिक स्थिति सामान्य थी, ऊपर से उनमें मर्दानगी भरी ही दिखाई देती थी, पर थे वे वस्तुतः नपुंसक। न तो उनके मन में काम उमंग थी, न जननेंद्रिय में उत्तेजना। कारण तलाश करने पर उनमें सेक्स-हारमोनों का अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले जो अल्पवयस्क अथवा वयोवृद्ध होते हुए भी काम पीड़ित रहते थे।

अंतःस्रावी ग्रंथियों और उनसे उत्पन्न हारमोनों के आश्चर्यजनक प्रभाव के ढेरों प्रमाण अध्ययनकर्ताओं को मिले हैं। 'बीथोवेन जैसे बहरे का प्रखर संगीतज्ञ बनना' डीसास्थनीज जैसे हकलाने वाले का धुरंधर वक्ता हो सकना, डेनियलबोर्न जैसे मंद दृष्टि का-सुंदर दृश्यों का अंकन करने वाला कुशल चित्रकार बन पाना इन्हीं हारमोनों के स्राव की मात्रा पर निर्भर रहा है।

'एस्ट्रोलॉजिकल कोरिलेशन्स विथ द डक्टलैस ग्लैंड्स' नामक ग्रंथ में अंतःस्रावी ग्रंथियों की चर्चा आंतरिक ग्रहों के रूप में की गई है। जिस प्रकार सौरमंडल के विविध ग्रह परस्पर संतुलन स्थिति बनाये हैं, वैसे ही ये अंतःस्रावी ग्रंथियाँ शारीरिक, मानसिक संतुलन साधे रहती हैं।

इस तुलना-क्रम में सूर्य की पीनियलबाडी से, चंद्र की पिट्यूटरी से, मंगल की पैराथाइराइड से, बुध की थाइराइड से,

वृहस्पति की एड्रीनल से तथा शुक्र की थाइमस से तुलना की गई है। "ऑकल्ट एनाटॉमी" के लेखक ने इन ग्रंथियों का उल्लेख "ईथर सेंटर्स' के रूप में किया है तथा उनके उद्दीपन की अंतर्ग्रही चेतना के साथ जोड़ा है। प्रतीत होता है कि अविज्ञात चेतना केंद्रों से इन ग्रंथियों के माध्यम से मनुष्य को कुछ असाधारण अनुदान मिलता रहता है।

उपरोक्त कथनानुसार अंतःस्रावी ग्रंथियों का संबंध ब्राह्मण चेतना से—सूक्ष्म जगत् से बनता है। वे विश्व शक्तियों के साथ आदान-प्रदान का काम करती है। शरीरशास्त्र के अनुसार उनका प्रभाव काय-कलेवर के अंतर्गत शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसका अर्थ हुआ कि यह ग्रंथियाँ भीतर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ती हैं, उनका प्रभाव व्यक्तित्व की विविध विधि क्षमताएँ उभारने में असाधारण रूप से होता है। यद्यपि इन ग्रंथियों को नियंत्रण से बाहर माना जाता है और समझा जाता है कि इनकी प्रकृति एवं क्रिया-पद्धति बदलना अपने हाथ की बात नहीं है, किंतु ऐसा है नहीं।

साधना विज्ञान का गहन अध्ययन किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि भारतीय मनीषियों द्वारा साधना, तप, आत्मिक विकास के लिए अपनाए जाने वाले विविध उपचार इन ग्रंथियों की स्थिति बदलने में पूर्णतया सफल और सक्षम रहे हैं। सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाले साधनात्मक प्रयत्नों से इन ग्रंथियों की स्थिति बदली जा सकती है और अनावश्यक हारमोनों का उत्पादन घटाकर जो उपयोगी है उन्हें बढ़ाया जा सकता है।

जो भी हो अंतःस्रावी ग्रंथियों की स्वनियोजित कार्यप्रणाली इस बात का प्रतीक तो है ही कि वे एक नियम व्यवस्था के अनुसार काम करती हैं, जब जिस हारमोन की आवश्यकता पड़ती है उसका सृजन कर अपना कर्तव्य निबाहती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव इकाइयों में भी इतनी व्यवस्था और नियमबद्धता है, वह उसे संचालित करने वाली चेतन सत्ता का प्रमाण तो है ही।

❑ ❑

भाव-संवेदनाओं में व्यक्त विश्वात्मा

किस आधार पर यह माना जाय कि सभी प्राणियों में एक ही परमसत्ता का आवास है ? सबमें एक ही ईश्वरीय प्रकाश प्रतिबिंबित होता है, इसे स्थूल रूप में किस प्रकार देखा—अनुभव किया जाये ? ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति, उसका प्रत्यक्ष अनुभव तो उच्चस्तरीय साधनाओं द्वारा ही किया जा सकता है, पर विवेक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो भावनात्मक अभिव्यक्तियों की विभिन्न घटनाएँ यह दर्शाती हैं कि जीव मात्र में विद्यमान भावनाएँ उनका पारस्परिक आकर्षण, लगाव, रुझान किसी ऐसे तत्त्व की विद्यमानता प्रमाणित करती है, जो सभी प्राणियों में समान रूप से उपस्थित है।

मनुष्य अपने पास भी विभिन्न तरह की संपत्तियाँ एकत्रित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उनमें सफलता भी प्राप्त करता है; लेकिन इन संपदाओं को सर्वोत्तम नहीं कहा जाता, न समझा ही जाता है। मनुष्य के पास यदि कोई सर्वोत्तम संपत्ति हो सकती है तो यह भावनाएँ ही हैं, इनसे ही व्यक्तित्व की परख होती और मान-सम्मान मिलता है। संवेदना परमात्मा से जोड़े रहने वाला एक ऐसा तत्त्व है कि वह जिस भी हृदय में रहता है, उसी को आत्मिक संतोष और गरिमा प्रदान किये रहता है।

जंगल में आग लगती है तो नष्ट जीव-जंतु ही नहीं होते, वृक्ष, वनस्पति, वहाँ बसने वाले गाँव सभी उजड़ जाते हैं। इन दिनों भौतिकता की जो भयंकर दावाग्नि लगी हुई है, उसने न केवल सांसारिक यथार्थ सौंदर्य को नष्ट किया, अपितु संवेदनाओं को भी मटियामेट कर दिया है। इससे लगता है मनुष्य जड़-पत्थरों का बना पिशाच है, जो न किसी का दर्द समझता है न दुःख, न किसी के प्रति दया बरतता है न करुणा। उससे तो

पशु-पक्षी ही अच्छे, जिन्होंने अपनी भावनाओं को तिलांजलि नहीं दी अपितु उन्हें विकसित ही किया है।

हिरनी का वात्सल्य सर्वविदित है। एक बार दिल्ली के सुल्तान सुबुक्तगीन जंगल में शिकार खेलते गये। वहाँ उन्हें हिरण का एक नन्हा बच्चा मिल गया। सुल्तान उसे घोड़े की पीठ पर लादकर वापस लौटे तो यह देखकर, आश्चर्यचकित रह गये कि बच्चे की ममता के वशीभूत हिरनी मृत्यु भय को तिलांजलि देकर पीछे-पीछे चली आ रही है। यह दृश्य देखकर सुल्तान का हृदय उमड़ने लगा। उन्होंने करुणावश बच्चे को छोड़ दिया। हिरणी बड़ी देर तक खड़ी अपने बच्चे को चाटती और कृतज्ञता भरी दृष्टि से सुल्तान को देखती रही।

जीवों की संवेदना सजातियों तक ही सीमित नहीं रहती अपितु उनका हृदय औरों के प्रति भी सदय होता है, इस तरह के उदाहरण सामने आते हैं, तो मनुष्य की स्वार्थपरता स्वयं अपना ही धिक्कार करने लगती है। जंगल के जीवन में ऐसे उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं। बात उन दिनों की है जब भारत-पाकिस्तान में गृह युद्ध की स्थिति थी। हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे के प्राणों के प्यासे घूम रहे थे। एबटाबाद (अब पाकिस्तान) भी उससे अछूता नहीं था। एक पालतू बंदरिया बुजो जिसका अपना बच्चा मौत की नींद सो गया था, दुःखी बैठी थी। उधर सड़क पर एक कुतिया अपने नवजात पिल्ले को दूध पिला रही थी। तभी उधर से एक ट्रक गुजरा। कुतिया ने भागने की कोशिश की, पर शीघ्रता में वह ट्रक की चपेट में आकर अपनी जान गँवा बैठी। पिल्ला किसी तरह बच गया, पर भूख से तड़फड़ाता वह इधर-उधर अपनी माँ को खोज रहा था। यह दृश्य देखकर बुजो की करुणा छलक उठी, वह पेड़ से उतरी और पिल्ले को छाती से चिपटाकर भाग गई। लोगों ने पिल्ले को बचाने के लिए उसका पीछा किया, पर जब वे मकान की उस छत पर पहुँचे तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि बुजो लेटी हुई है

और पिल्ले को अपना दूध पिला रही है। वह उसके सिर और पीठ पर हाथ भी फेरती जा रही थी, उसका वात्सल्य साफ झलक रहा था। यह दृश्य देखकर लोगों का हृदय भर आया। मजहब के नाम पर रक्तपात करने वाली इंसानियत शर्म से पानी-पानी हो उठी। यह चर्चा बिजली की तरह सारे नगर में फैल गई। एबटाबाद, पाकिस्तान में चला गया, पर इस घटना के बाद वहाँ फिर कोई रक्तपात नहीं हुआ।

शहबाजपुर के टिकट कलड़ी गाँव। बाज ने तोते पर झपट्टा मारा। वह लेकर उड़ तो न सका, पर उसके खरोंच काफी लगी। रक्त प्रवाहित होने लगा। बाज काफी देर तक आकाश में मँडराता रहा। यह दृश्य पास के वृक्ष पर बैठे कुछ बंदर देख रहे थे। इनमें से एक मोटा बंदर तोते के पास आया। तोता समझ गया कि जीवित बचना बहुत कठिन है। वह भयभीत होकर चें-चें करने लगा।

बंदर ने दया भाव से उस तोते को धीरे से पकड़ लिया। अपने सीने से लगाया। अब उसका भय दूर हो गया। अपने को सुरक्षित जान उसने चिल्लाना भी बंद कर दिया। अन्य बंदरों के मन में भी सहानुभूति जाग उठी, वे पके बेर तोड़ लाये और प्रेम से तोते को खिलाने लगे। स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर कुछ घंटों के पश्चात् तोता उड़ गया।

सन् १८०८ ई. में कच्छ में भयानक अकाल पड़ा, उस समय वहाँ के सेनापति फतह मुहम्मद थे। अकाल के कारण चारे के अभाव में प्रतिदिन सैकड़ों पशु मर जाते हैं। एक दिन एक छोटा-सा बछड़ा सेनापति के अस्तबल में घुस आया। करुणावश सईसों ने उसे वहीं पाल लिया। बछड़े की घोड़ों के साथ एक परिवार जैसी दोस्ती हो गई।

कुछ दिन बाद फतह मुहम्मद ने जामनगर रियासत पर चढ़ाई कर दी। घोड़े बाहर निकाल लिए गए। बछड़े को भीतर ही बंद कर दिया गया। वह इस स्थिति को सहन नहीं कर सका।

लातों से पीट-पीटकर उसने दरवाजा तोड़ डाला, आखिर उसे भी साथ लेना पड़ा।

युद्ध के दौरान सेनापति की एक तोप दल-दल में फँस गई। सारे घोड़े जोत दिये गये, पर तोप टस से मस न हुई। किसी सैनिक ने कहा—यदि बछड़े को इसमें जोता जाये और घोड़ों को आगे बढ़ा दिया जाये तो संभव है वह इसे निकाल दे, क्योंकि बछड़े को सभी कुछ बर्दाश्त था, अपने मित्रों का बिछोह नहीं।

यही किया गया। उसे तोप में जोतकर जैसे ही घोड़े आगे को बढ़ाये गये, उसने संपूर्ण शक्ति लगा दी आगे बढ़ने के लिए और सच ही तोप बाहर आ गई, किंतु उस बछड़े के प्राण लेकर। फतह मुहम्मद ने यह सुना तो उनका हृदय करुणा से उमड़ पड़ा। उन्होंने युद्ध बंद करा दिया और पशु हृदय की इस मूक अभिव्यक्ति को साकार करने के लिए, उन्होंने वहाँ बछड़े की सुंदर समाधि बनवाई।

जीवों का जीवों से प्यार हो और मनुष्य-मनुष्य से घृणा करे तो पशु अपने से अच्छे माने जाएँगे। पशु-पक्षी मनुष्य जाति के साथ उपकार करें और मनुष्य उनके प्रति नृशंसता का आचरण करें तो इसे मनुष्य का अपराधपूर्ण कृत्य माना जाएगा। मानव के प्रति जीवों की उदारता से कई बार मन अविभूत हो उठता है।

सन् १९७४ में वाराणसी के समीप मघई पुल ट्रेन दुर्घटना हुई, उस समय सात कबूतरों की मानवीय-संवेदना ने लोगों को अश्रुपूरित कर दिया। यह सात कबूतर गोरखपुर के एक कारखाने के कर्मचारी के थे, जिन्हें एक टोकरी में अपने साथ ले जा रहा था। सातों कबूतर, सात घंटे तक अपने मालिक के आस-पास मँडराते रहे। अधिकारीगण जब उसकी लाश निकालने लगे, तो उन्होंने अनुभव किया कि उनके मालिक का कष्ट दे रहे हैं। कबूतर तो एक अनाक्रमणकारी पक्षी है, उन्होंने भी तब अपने मालिक की रक्षा के लिए उन अधिकारियों पर बार-बार आक्रमण कर विलक्षण दृश्य प्रस्तुत कर दिया। इतने समय तक जब तक

वह शव वहाँ से हटा नहीं दिया गया, कबूतर भूखे-प्यासे पहरेदारी करते रहे, अपने स्थान से टस से मस न हुए।

२६ जून, १६७१ के बंबई से छपने वाले नवभारत टाइम्स में एक समाचार में बताया गया है कि सिवनी जिले के हरई ग्राम में मल्लू नामक एक ग्वाला अपनी गायें चरा रहा था, तभी उस पर एक शेर ने आक्रमण कर दिया, जबकि उसके साथी भयभीत होकर भाग खड़े हुए, उसकी दो गायों ने शेर पर हमला कर दिया। सींगों की चपेट न सहन कर पाने के कारण शेर भाग खड़ा हुआ और इस तरह गायों ने अपने मालिक मल्लू की रक्षा कर ली।

केरल के मौपला विद्रोह के समय सर्पों ने डकैतों के एक समूचे दल पर आक्रमण कर जिस घर में वे निवास करते थे, उसके मालिक की रक्षा की थी। इस तरह यह जीव यह शिक्षा देते हैं कि जब तुच्छ प्राणी भी भावनाओं से रिक्त नहीं तो मनुष्य संवेदना शून्य हो जाये, यह उचित नहीं है।

● प्रेम की प्यास पशु-पक्षियों के भी पास

अल्बर्ट श्वाइत्जर जहाँ रहते थे, उनके समीप ही बंदरों का एक दल रहता था। दल के एक बंदर और बंदरिया में गहरी मित्रता हो गई। दोनों जहाँ जाते साथ-साथ जाते, एक कुछ खाने को पाता तो यही प्रयत्न करता कि उसका अधिकांश उसका साथी खाये। कोई भी वस्तु उनमें से एक ने भी कभी अकेले न खाई। उनकी इस प्रेम भावना ने अल्बर्ट श्वाइत्जर को बहुत प्रभावित किया। वे प्रायः प्रतिदिन इन मित्रों की प्रणय-लीला देखने जाते और एकांत स्थान में बैठकर घंटों उनके दृश्य देखा करते। कैसे भी संकट में उनमें से एक ने भी स्वार्थ का परिचय न दिया। अपने मित्र के लिए वे प्राणोत्सर्ग तक के लिए तैयार रहते, ऐसी थी उनकी अविचल प्रेम-निष्ठा।

विधि की विडंबना—बंदरिया कुछ दिन पीछे बीमार पड़ी। बंदर ने उसकी दिन-दिन भर भूखे-प्यासे पास रहकर सेवा-सुश्रूषा

की, पर बंदरिया बच न सकी, मर गई। बंदर के जीवन में मानो वज्रपात हो गया। वह गुमसुम जीवन बिताने लगा।

इन प्राणियों में विधुर विवाह पर प्रायः किसी में भी प्रतिबंध नहीं है। एक साथी के न रहने पर नर हो या मादा अपने दूसरे साथी का चुनाव खुशी-खुशी कर लेते हैं। इस बंदर दल में एक से एक अच्छी बंदरियाएँ थीं। बंदर हृष्ट-पुष्ट था, किसी भी नई बंदरिया को मित्र चुन सकता था, पर उसके अंतःकरण का प्रेम तथाकथित मानवीय प्रेम की तरह स्वार्थ और कपटपूर्ण नहीं था। पता नहीं उसे आत्मा के अमरत्व, परलोक और पुनर्जन्म पर विश्वास था, इसीलिए उसने फिर किसी बंदरिया से विवाह नहीं किया।

पर आत्मा जिस धातु से बना है, वह प्रेम के प्रकाश से ही जीवित रहता है, प्रेमविहीन जीवन तो जीवित नरक समान लगता है। बंदर ने अपनी निष्ठा पर आँच न आने देने का संकल्प कर लिया होगा, तभी तो उसने दूसरा विवाह नहीं किया। पर प्रेम की प्यास कैसे बुझे ? यह प्रश्न उसके अंतःकरण में उठा अवश्य होगा, तभी तो उसके कुछ दिन पीछे ही अपने जीवन की दिशा दूसरी ओर मोड़ दी और प्रेम को सेवा का रूप दे दिया।

बंदर एक स्थान पर बैठा रहता। अपने कबीले या दूसरे कबीले का कोई अनाथ बंदर मिल जाता तो वह उसे प्यार करता, खाना खिलाता, भटक गये बच्चे को ठीक उसकी माँ के पास पहुँचाकर आता, लड़ने वाले बंदरों को अलग-अलग कर देता, इसमें तो वह कई बार अति उग्र पक्ष को मार भी देता था, पर तब तक चैन नहीं लेता, जब तक उनमें मेल-जोल नहीं करा देता। उसने कितने ही वृद्ध, अपाहिज बंदरों को पाला, कितनों ही का बोझ उठाया। बंदर की इस निष्ठा ने ही अल्बर्ट श्वाइत्जर को एकांतवादी जीवन से हटाकर सेवाभावी जीवन बिताने के लिए अफ्रीका जाने की प्रेरणा दी। श्वाइत्जर बंदर की इस आत्मनिष्ठा को जीवन भर नहीं भूले।

संटियागो की धनाढ्य महिला श्रीमती एनन ने पारिवारिक कलह से ऊबकर जी बहलाने के लिए एक भारतीय मैना पाल

ली। मैना जब से आई, तभी से उदास रहती थी। एनन की बुद्धि ने प्रेरणा दी। संभव है, उसे भी अकेलापन कष्ट दे रहा हो। सो दूसरे दिन एक और तोता मोल ले लिया। तोता और मैना भिन्न जाति के दो पक्षी भी पास आ जाने पर परस्पर ऐसे घुल-मिल गये कि एक के बिना दूसरे को चैन ही न पड़ता।

प्रातःकाल बिना चूक मैना तोता को 'नमस्ते' कहती। तोता बड़ी ही मीठी वाणी में उसके अभिवादन का कुछ कहकर उत्तर देता। पिंजड़े पास-पास कर दिये जाते, फिर दोनों की वार्ताएँ छिड़तीं, न जाने क्या मैना कहती, न जाने क्या तोता कहता, पर उनको देखकर लगता, यह दोनों बहुत खुश हैं। दोनों का प्रेम प्रतिदिन प्रगाढ़ होता चला गया, चोंच से दबाकर अपनी चीजें बाँटकर खाते।

कुछ ऐसा हुआ कि श्रीमती एनन की एक रिश्तेदार को तोता भा गया। वे जिद करके उसे माँग ले गईं। ठीक उसी दिन मैना बीमार पड़ गई और चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने अपनी नश्वर देह त्याग दी। तोता कृतघ्न नहीं था। वह बंदी था, चला तो गया, पर आत्मा को बंदी बनाना किसके लिए संभव है ? वह भी मैना की याद में बीमार पड़ गया और ठीक चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने भी अपने प्राण त्याग दिये। पता नहीं दोनों की आत्माएँ परलोक में कहीं मिलीं या नहीं, पर इस घटना ने श्रीमती एनन का स्वभाव ही बदल दिया। अब उनके स्वभाव में सेवा और मधुरता का ऐसा प्रवाह फूटा कि वर्षों से पारिवारिक-कलह से जलता हुआ दांपत्य सुख फिर खिल उठा। पति-पत्नी में कुछ ऐसी घनिष्ठता हुई कि मानो उनके अंतःकरण में तोता और मैना की आत्मा ही साक्षात् उतर आई हों। उनकी मृत्यु भी वियोगजन्य परिस्थितियों में एक ही दिन, एक ही समय हुई।

तोता, मैना, बंदर जैसे छोटे-छोटे सौम्य स्वभाव जीवों की कौन कहे, प्रेम की प्यास तो भयंकर खूँखार जानवरों के हृदय में भी होती है। कुवियर नामक एक प्रसिद्ध विदेशी व्यक्ति के एक मित्र को भेड़िया पालने की सूझी। कहीं से एक बच्चा भेड़िया मिल

गया। उसे वह अपने साथ रखने लगे। भेड़िया कुछ दिनों में उनसे ऐसा घुल-मिल गया, मानो उनकी मैत्री इस जन्म की ही नहीं कई जन्मों की है।

कुछ ऐसा हुआ कि एक बार उन सज्जन को किसी काम से बाहर जाना पड़ गया। वह भेड़िया एक चिड़ियाघर को दे गये। भेड़िया चिड़ियाघर तो आ गया, पर अपने मित्र की याद में दुःखी रहने लगा। मनुष्य का जन्मजात बैरी मनुष्य के प्रेम के लिए पीड़ित हो यह देखकर चिड़ियाघर के कर्मचारी बड़े विस्मित हुए। कोई भारतीय दार्शनिक उनके पास होता और आत्मा की सार्वभौमिक एकता का तत्त्वदर्शन उन्हें समझता तो संभव था, ये भी जीवन को एक नई आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने में समर्थ होते उनका विस्मय चर्चा का विषय भर बनकर रह गया।

भेड़िये ने अपनी प्रेम की पीड़ा शांत करने के लिए दूसरे जीवों की ओर दृष्टि डाली। कुत्ता-भेड़िये का नंबर एक का शत्रु होता है, पर आत्मा किसका मित्र, किसका शत्रु ? क्या तो वह कुत्ता—क्या भेड़िया ? कर्मवश भ्रमित सभी प्राणी आत्मा से एक है, यदि यह तथ्य संसार जान जाए, तो फिर क्यों लोगों में झगड़े हों, क्यों मन-मुटाव, दंगे-फसाद, भेद-भाव, उत्पीड़न और एक-दूसरे से घृणा हो। विपरीत परिस्थितियों में भी प्रेम जैसे स्वर्गीय सुख की अनुभूति आत्मदर्शी के लिए ही संभव है। इस घटना का सार-संक्षेप भी यही है। भेड़िया अब कुत्ते का प्रेमी बन गया, उसके बीमार जीवन में भी एक नयी चेतना आ गई। प्रेमी की शक्ति कितनी वरदायक है कि वह निर्बल और अशक्तों में भी प्राण की गंगोत्री पैदा कर देती है।

दो वर्ष पीछे मालिक लौटा। घर आकर वह चिड़ियाघर गया अभी वह वहाँ के अधिकारी से बातचीत कर ही रहा था कि उसका स्वर सुनकर भेड़िया भगा चला आया और उसके शरीर से शरीर जोड़कर खूब प्यार जताता रहा। कुछ दिन फिर ऐसे ही मैत्रीपूर्ण जीवन बीता।

कुछ दिन बाद उसे फिर जाना पड़ा। भेड़िये के जीवन में लगता है भटकाव ही लिखा था; फिर उस कुत्ते के पास जाकर उसने अपनी पीड़ा शांत की। इस बार मालिक थोड़ा जल्दी आ गया। भेड़िया इस बार उससे दूने उत्साह से मिला, पर उसका स्वर शिकायत भरा था। बेचारे को क्या पता था कि मनुष्य ने अपनी जिंदगी ऐसी व्यस्त जटिल सांसारिकता से जकड़ दी है कि उसे आत्मीय भावनाओं की ओर दृष्टिपात और हृदयंगम करने की कभी सूझती ही नहीं। मनुष्य की यह कमजोरी दूर हो गई होती, तो आज संसार कितना सुखी और स्वर्गीय परिस्थितियों से आच्छादित दिखाई देता।

कुछ दिन दोनों बहुत प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहे। एक-दूसरे को चाटते, थपथपाते, हिलते-मिलते, खाते-पीते रहे और इसी बीच एक दिन उसके मालिक को फिर बाहर जाना पड़ा। इस बार भेड़िये ने किसी से न दोस्ती की न कुछ खाया-पीया। उस दिन से बीमार पड़ गया और प्रेम के लिए तड़प-तड़पकर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। उसके समीपवर्ती लोगों के लिए भेड़िया उदाहरण बन गया। वे जब कभी अमानवीय कार्य करते भेड़िये की याद आती और उनके सिर लाज से झुक जाते।

बर्लिन की एक सर्कस कंपनी में एक बाघ था। नीरो उसका नाम था। इस बाघ को लीरिजग के एक चिड़ियाघर से खरीदा गया था। जिन दिनों बाघ चिड़ियाघर में था, उसकी मैत्री चिड़ियाघर के एक नौकर से हो गई। बाघ उस मैत्री के कारण अपने हिंसक स्वभाव तक को भूल गया।

पीछे वह क्लारा इलियट नामक एक हिंसक जीवों के प्रशिक्षिका को सौंप दिया गया। एक दिन बाघ प्रदर्शन से लौट रहा था, तभी एक व्यक्ति निहत्था आगे बढ़ा—बाघ ने उसे देखा और घेरा तोड़कर भाग निकला। भयभीत दर्शक और सर्कस वाले इधर-उधर भागने लगे, पर स्वयं क्लारा इलियट तक यह देखकर दंग रह गई कि बाघ अपने पुराने मित्र के पास पहुँचकर, उसे

चाट रहा और प्रेम जता रहा है। उस मानव-मित्र ने उसकी पीठ खूब थपथपायी, प्यार किया और कहा—अब जाओ, समय हो गया। बाघ चाहता तो उसे खा जाता, भाग निकलता, पर प्रेम के बंधनों में जकड़ा हुआ बेचारा बाघ अपने मित्र की बात मानने को बाध्य हो गया। लोग कहने लगे सचमुच प्रेम की ही शक्ति ऐसी है, जो हिंसक को भी मृदु, शत्रु को भी मित्र और संताप से जलते हुए, संसार सागर को हिम खंड की तरह शीतल और पवित्र कर सकती है।

● भावनाओं में अभिव्यक्त विश्वात्मा

अमरीका के सैनडिगो चिड़ियाघर में एक बार एक बंदर दंपत्ति ने एक बच्चे को जन्म दिया। मादा ने खूब स्नेह और प्यारपूर्वक बच्चे का पालन-पोषण किया। बच्चा अभी २० महीने का ही हुआ था कि मादा ने एक नये बच्चे को जन्म दिया। यद्यपि पहला बच्चा माँ का दूध पीना छोड़ चुका था, तथापि संसार के जीव मात्र को भावनाओं की न जाने क्या आध्यात्मिक भूख है, उसे अपनी माँ पर और किसी का अधिकार पसंद न आया। उसने अपने छोटे भाई को हाथ से पकड़कर खींच लिया और खुद जाकर माँ के स्तनों से जा चिपका।

स्वार्थ एक सामाजिक दोष है और अपराध का कारण भी। इसलिए उसकी सभ्य और भावनाशील समाज में निंदा की जाती है, पर यहाँ स्वार्थ की अपेक्षा भावुकता की मात्रा अधिक थी। भाव तो वह शक्ति है, जो स्वार्थ को भी क्षम्य कर देता है और नियमबद्धता का भी उल्लंघन कर देता है। इससे लगता है—भाव मनुष्य जीवन की मूल आवश्यकता है। हम उस आवश्यकता के कारण की शोध कर पाएँ तो जीवन विज्ञान के अदृश्य सत्य को खोज निकलने में सफल हो सकते हैं।

मादा ने अनुचित पर ध्यान नहीं दिया। उसने बड़े बच्चे को भावनापूर्वक अपनी छाती से लगा लिया और उसे दूध पिलाने के

लिए इनकार नहीं किया, जबकि अधिकार उसका नहीं छोटे बच्चे का ही था। दो-तीन दिन में ही छोटा बच्चा कमजोर पड़ने लगा। चिड़ियाघर की निर्देशिका बेले० जे० बेनेशली के आदेश से बड़े बच्चे को वहाँ से निकालकर अलग कर दिया गया। अभी उसे अलग किये एक दिन ही हुआ था, वहाँ उसे अच्छी से अच्छी खुराक भी दी जा रही थी किंतु जीव मात्र की ऐसी अभिव्यक्तियाँ बताती हैं कि आत्मा की वास्तविक भूख, भौतिक संपत्ति और पदार्थ की उतनी अधिक नहीं जितनी कि उसे भावनाओं की प्यास होती हैं। भावनाएँ न मिलने पर अच्छे और शिक्षित लोग भी खूँखार हो जाते हैं, जबकि सद्भावनाओं की छाया में पलने वाले अभावग्रस्त लोग भी स्वर्गीय सुख का रसास्वादन करते रहते हैं। बड़ा बच्चा बहुत कमजोर हो गया, जितनी देर उसका संरक्षक उसके साथ खेलता उतनी देर तो वह कुछ प्रसन्न दीखता, पर पीछे वह किसी प्रकार की चेष्टा भी नहीं करता, चुपचाप बैठा रहता, उसकी आँखें लाल हो जातीं, मुँह उदास हो जाता।

गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर उसे फिर से उसके माता-पिता के पास कर दिया गया। वह सबसे पहले अपनी माँ के पास गया, पर उसकी गोद में था छोटा भाई, फिर वही प्रेम की प्रतिद्वंद्विता। उसने अपने छोटा भाई के साथ फिर रूखा और शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया। इस बार माँ ने छोटे बच्चे का पक्ष लिया और बड़े को झिड़ककर अलग कर दिया, मानो यह बताना चाहती हो कि भावनाओं की भूख उचित तो है, पर औरों की इच्छा का भी अनुशासनपूर्वक आदर करना चाहिए। दंड पाकर बड़ा बच्चा ठीक हो गया, अब उसने अपनी भावनाओं की—परितृप्ति का दूसरा और उचित तरीका अपनाया। वह माँ के पास उसके शरीर से सटकर बैठ गया। माँ ने भावनाओं की सदाशयता को समझा और अपने उद्धत बच्चे के प्रति स्नेह जताया, उससे उसका भी उद्वेग दूर हो गया। थोड़ी देर में वह अपने पिता के कंधों पर जा बैठा। कुछ दिन के पीछे तो उसने

समझ लिया कि स्नेह, सेवा, दया, मैत्री, करुणा, उदारता, त्याग सब प्रेम के ही रूप हैं, सो अब उसने अपने छोटे भाई से भी मित्रता कर ली। इस तरह एक पारिवारिक-विग्रह फिर से हँसी-खुशी के वातावरण में बदल गया। छोटे कहे जाने वाले इन नन्हे-नन्हे जीवों से यदि मनुष्य कुछ सीख पाता तो उसका आज का जलता हुआ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन भी कैसी भी परिस्थितियों में स्वर्गीय सुख और संतोष का रसास्वादन कर रहा होता।

आज का मनुष्य भावनाओं के अभाव में ही इतना दुराग्रही, स्वार्थी और उच्छृंखल हो गया है। यदि कुत्ते और बंदर परस्पर प्रेम और मैत्री-भावना का निर्वाह कर सकते हैं, तो विचारशील मनुष्य क्यों ऐसा नहीं कर सकता ? यह कोई अत्युक्ति नहीं। अलीगढ़ जिले के कस्बा जवाँ में एक बंदर और कुत्ते में मैत्री लोगों के लिए एक चुनौती है। विरोधी स्वभाव के जीव परस्पर साथ-साथ खेलते और साथ-साथ रहते हैं। बंदर अपने मित्र के जुएँ साफ करता है, कुत्ता बंदर के तलुए सहलाता है। दोनों की मैत्री एक अव्यक्त सत्य का प्रतिपादन करते हुए कहती है—भिन्न-भिन्न शरीर है तो क्या ? आकांक्षाओं, इच्छाओं, भावनाओं वाली आत्मिक चेतना तो एक ही है। कर्मवश भिन्न शरीरों, भिन्न देश-जाति और वर्णों में जन्म लेने वाले अपने को एक दूसरे क्यों समझें ? सब लोग अपने आपको विश्वात्मा की एक इकाई मानकर ही परस्पर व्यवहार करें तो संसार कितना सुखी हो जावे ?

निसर्ग में यह आदर्श पग-पग पर देखने को मिलते हैं। कैफनी एस० सी० में स्टीव एंड स्किनर के पास एक मुर्गी थी। एक बार उसके सद्य प्रसूत बच्चों को बाज ने पकड़कर खा लिया। उसके थोड़ी देर बाद मुर्गी ने एक बिल्ली का पीछा किया। लोगों ने समझा मुर्गी के प्रतिशोध का भाव जाग गया है, किंतु यह धारणा कुछ देर में ही मिथ्या हो गई, जबकि मुर्गी ने बिल्ली को पकड़ लिया, उसके पास आ जाने से उसके चारों बच्चे भी पास

आ गये। मुर्गी ने चारों बच्चे स्वयं पाले और इस तरह अपनी भावना की भूख को बिल्ली के बच्चे से प्यार करके पूरा किया।

डॉ० साहवर्ट ने जंगल जीवन की व्याख्या करते हुए एक गिलहरी और गौरैया में प्रगाढ़ मैत्री का वर्णन किया है। गिलहरी यद्यपि अपने बच्चों की देख-रेख करती और अपने सामाजिक नियमों के अनुसार अन्य गिलहरियों में से मुलाकात भी करती, पर वह दिन के कम से कम चार घंटे गौरैया के पास आकर अवश्य रहती, दोनों घंटों खेला करते। दोनों ने एक-दूसरे को कई बार आकस्मिक संकटों से बचाया और जीवन रक्षा की। गिलहरी आती तब अपने साथ कोई पका हुआ बेर गौरैया के लिए अवश्य लाया करती। गौरैया उस बेर को गिलहरी के चले जाने के बाद खाया करती। भावनाओं की प्यास सृष्टि के हर जीव को है, यही एकात्मा का प्रमाण है।

स्वामी दयानंद एक बार बूढ़े केदार के रास्ते पर एक स्थान में ध्यान मग्न बैठे प्रकृति की शोभा का आनंद पा रहे थे। उस समय एक साधु भी वहाँ पहुँच गये। साधु ने महर्षि को पहचानकर उन्हें प्रणाम किया ही था कि उन्हें एक शेर की दहाड़ सुनाई दी शेर उधर ही चला आ रहा था। यह देखते ही वह महात्मा काँपने लगे। दयानंद ने हँसकर कहा—बाबा डरो नहीं, शेर खूँखार जानवर है तो क्या हुआ, मनुष्य के पास दिव्य प्रेम की आत्मभावना की ऐसी जबर्दस्त शक्ति है कि वह एक शेर तो क्या सैकड़ों शेरों को गुलाम बना सकती है। सचमुच शेर वहाँ तक आया। साधु भयवश कुटिया के अंदर चले गये, पर महर्षि वहीं बैठे रहे। शेर स्वामी जी के पास तक चला आया। उन्होंने बड़े स्नेह से उसकी गर्दन सिर पर हाथ फेरा, वह भी वहीं बैठ गया। उसकी आँखों की चमक कह रही थी कि जीवन की वास्तविक प्यास और अभिलाषा तो आतरिक प्रेम की है। वह कुछ देर वहाँ बैठकर चला गया।

सारी पृथ्वी में प्रकृति ने अपनी रचनाओं में जो विलक्षणता-वैषम्यता प्रस्तुत कर रखी है, वह तो ठीक है। वह हमारी दृष्टि में भले ही तुच्छ जान पड़े, पर अध्ययन यह बताता है कि वह सब एक ही आत्म चेतना की विलक्षण और रहस्यपूर्ण परिणति है। एक ही चेतना अपनी इच्छा-आकांक्षाओं के रूप में अनेक शरीर धारण करती रहती है। प्रकृति निर्जीव नहीं, जीवित-क्रियाशील है। उसके गुण और जीवन पद्धति उतनी ही विलक्षण है, जितना कि इच्छा और वासनाओं वाला यह संसार रहस्यपूर्ण है।

● विलक्षण यह प्राणी संसार

जीव जगत् की विलक्षणताओं का अध्ययन करने के लिए किये गये प्रयासों के कई ऐसे उदाहरण जीवों को देखने में आये हैं। उत्तरी अमेरिका में अलास्का से केलीफोर्निया तक समुद्र में ६० फुट से १८०० फुट तक की गहराई में "लेंबे" जाति की एक मछली पायी जाती है; इसका नाम है "हैगफिश"। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि कई इंजनों वाले जेट विमान के समान इस मछली के ४ हृदय होते हैं, पेट होता ही नहीं और नथुना भी केवल एक ही होता है, दाँत जीभ में होते हैं। अपने शरीर को रस्सी की-सी गाँठ लगाकर यह किसी मरे हुए जीव के शरीर में घुस जाती है और उसका सारा शरीर चट कर जाती है, पर आश्चर्य है कि भोजन न मिले तो भी वह वर्षों तक जीवित बनी रह सकती है।

हैगफिश किस जीव का विकास है ? आज का विज्ञान जगत् भी प्रकृति के इस रहस्य को सुलझा सकने में असहाय अनुभव कर रहा है। सन् १८२४ में कोपन हेगन की साइंस एकेडेमी ने घोषित किया कि जो वैज्ञानिक यह खोज कर लेगा कि हैगफिश की प्रजनन विधि क्या है ? उसे भारी पुरस्कार दिया जायेगा, पर आज तक भी यह पुरस्कार कोई वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सका।

जिस प्रकार "हैगफिश" की प्रजनन विधि ज्ञात नहीं हो सकी, उसी प्रकार वैज्ञानिक सर्वत्र पाए जाने वाले तिलचट्टे (कॉक्रोच) की

पृथ्वी पर आयु निर्धारित करने में असफल रहे हैं। अनुमान है कि करोड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी में डायनोसोर श्रेणी के जीवों का आविर्भाव हुआ, तब तिलचट्टा पृथ्वी में विद्यमान था। इसकी संभावित आयु ३५ करोड़ वर्ष बताई जाती है। इतनी अवधि पार कर लेने पर भी कठोर से कठोर और भयंकर से भयंकर प्राकृतिक परिवर्तन झेल लेने पर भी इसकी शारीरिक रचना में न तो कोई अंतर आया न विकास हुआ, तब फिर जीव-जगत् को नियमित और प्राकृतिक-परिवर्तनों के अनुरूप विकास की संज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

तेज से तेज गर्मी, वर्ष भर बर्फ जमी रहने वाले ग्लेशियर, पहाड़ और मैदान सब जगह यह तिलचट्टे पाये जाते हैं। महीने भर तक भोजन-पानी नहीं मिले तो भी उसका काम चल सकता है। दो महीने तक केवल पानी पर उपवास करके दिखा सकता है कि भोजन शरीर की आवश्यकता नहीं, तो ५ महीने तक वह सूखा भोजन ही लेता रहकर यह सिद्ध कर देता है कि मनुष्य पानी के बिना भी शरीर धारण करने में समर्थ हो सकता है। यह सब चेतना के आंतरिक गुणों पर आधारित रहस्य हैं, जिन्हें केवल शारीरिक अध्ययन द्वारा नहीं जाना जा सकता, उसे समझने के लिये आत्म-चेतना के विज्ञान का एक नया अध्याय खोलना आवश्यक है। यह अध्याय जीव के शरीर धारण की प्रक्रिया से संबंधित और आध्यात्मिक तथ्यों व तत्त्वदर्शन का अध्याय होगा, जिसके लिए हमारे पूर्वजों ने कठोर से कठोर तप किया था और उन सनातन सत्यों का प्रतिपादन किया था, जो धार्मिक विरासत के रूप में अभी भी हमारे पास विद्यमान हैं।

तिलचट्टे की भूख भी भयंकर होती है, आहार प्रारंभ कर देता है तो अपने अंडे-बच्चे भी नहीं छोड़ता। मादा अपने बच्चों से बड़ा स्नेह रखती है। प्रायः हर दो दिन में यह एक अंडा दे देती है। एक रूसी जीवशास्त्री ने एक बार पौने पाँच लाख तिलचट्टों के ऐसे शव ढूँढ़ निकाले, जो एक ही तिलचट्टे दंपत्ति की संतान थे। नर-कॉक्रोच बड़ा सफाई व सौंदर्य पसंद जीव है। वह घंटों

अपने शरीर और मूछों की सफाई में लगाता और उन्हें सुंदर ढंग से सँवारता है। इसकी मूँछें लंबी होती हैं और एरियल का काम देती हैं। मूँछों की मदद से वह अँधेरे में भी अपना रास्ता आसानी से तय कर लेता है। विज्ञान के लिए यह खुली चुनौतियाँ हैं। आज जो खोजें मनुष्य ने कर ली हैं, प्रकृति उसका ज्ञान आदि काल से अपने गर्भ में छिपाये हुए है। सृष्टि के वह विलक्षण जीव प्रकृति चेतना के ही प्रमाण हैं, वह इस बात के साक्षी भी हैं कि प्रकृति एक "परिपूर्ण वैज्ञानिक" है। विज्ञान की पूर्ण शोध और जानकारी का लाभ किसी प्रकृतिस्थ को ही उपलब्ध हो सकता है।

तिलचट्टे की विलक्षणताएँ और भी हैं। उसके बच्चे सप्ताहों भूखे रह सकते हैं। वह स्वयं बर्फ की चट्टान में दब जाता है। बर्फ पिघलकर उधर निकलती है और यह इधर उठकर चल देता है। इसका बाहरी आवरण इतना कठोर होता है कि पाँव से दब जाने पर भी यह मरता नहीं है। दौड़ने में यह किसी सुंदर विमान से कम नहीं, यह सब गुण ही हैं, जिन्होंने वैज्ञानिकों का ध्यान इसकी शोध के लिए आकर्षित किया। पर बेचारे जीवशास्त्री उसकी इस शारीरिक विलक्षणता पर ही उलझे रहे और मानसिक रहस्यमयता का एक भी पर्दा उघाड़ न सके।

उष्ण कटिबंधीय समुद्र में एक ट्रिगर फिश (वह मछली जिसके शरीर में काँटे होते हैं) पाई जाती है, इसका नाम है— 'हुमुहुमु-नुकुनुकु' जैसा विलक्षण नाम वैसा ही विलक्षण स्वयं भी। इसकी पूँछ, पीठ और सिर पर कुछ काँटे होते हैं, जिन्हें यह अपनी इच्छा और नाड़ियों के द्वारा जब चाहती है, तरेरकर सीधा और तीक्ष्ण कर देती है, फलस्वरूप किसी भी दुश्मन की इन पर घात नहीं लग पाती। इसके दाँतों की बनावट विचित्र होती है। दोनों जबड़ों में बाहर आठ-आठ दाँतों के अतिरिक्त ऊपर के जबड़े में एक प्लेट की शक्ल में ६ दाँतों की भीतरी पंक्ति भी होती है। ऐसा किस सुविधा के लिए है, यह वही जानती है, क्योंकि प्रकृति की कोई भी रचना निरर्थक नहीं। भले ही मनुष्य

सारगर्भित कल्पनाओं के स्थान पर वह क्रियाकलाप और रचनाएँ गढ़ता रहे, जो उसे लाभ पहुँचाने के स्थान पर हानिकारक होती हों।

जीवों की यह तरह-तरह की आकृति और प्रकृति देखते-देखते शास्त्रकार की जैविक व्याख्या अनायास ही याद आ जाती है—

अनारतं प्रतिदशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रिय ते वा बुदबुदा इव वारिणि।।

—योग वाशिष्ठ ४।४५।१-२

एवं जीवाश्रितो भावा भव भावन योहिता।
ब्राह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः।।
असंख्यताः पुरा जाता जायन्ते चापि वाद्यभो।
उत्पत्तिष्यन्ति चैवाम्बुकणौधा इव निर्झरात्।।

—योग वाशिष्ठ ४।४३।१।२

हे राम ! जिस प्रकार जल में अनेक बुलबुले बनते और बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार सब देश और सभी कालों में यह चेतना ही अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। यह सब चित्त के रूपांतर का फल है। जीव अपनी इच्छा और कल्पना के द्वारा लाखों और करोड़ों की संख्या में तीनों कालों में उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे झरने के जल-कण।

भारतीय दर्शन की यह मान्यताएँ कितनी सत्य और स्पष्ट हैं, उसे समझने के लिए साधना, शोध और अपने आत्मिक स्तर के विकास की उसे ऊँचा उठाने की आवश्यकता है। उपरोक्त घटनाओं और विवरणों से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में विद्यमान विलक्षणताएँ सार्वभौम-सर्वव्यापी चेतना की ही एक शक्ति है और सबमें उसका अस्तित्व भाव-संवेदना, करुणा, ममता, वात्सल्य मैत्री और दया की भाव संपदा के रूप में प्रकट होती है।

❑ ❑

सभी संतानों से समान प्यार

मनुष्य अपने को सब बातों में अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ और विकसित मानता है। कुछ अर्थों में वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है भी। उदाहरण के लिए उसका मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इसलिए वह अनेक दिशाओं में, पक्ष-विपक्ष की बातें सोच सकता है और अनेक निष्कर्ष निकाल सकता है। उसे हँसने की, बोलने की, लिखने-पढ़ने की विशेषताएँ भी मिली हैं। कृषि, पशु-पालन, शिल्प, व्यवसाय, संचार जैसे साधन उसने सीखे और विकसित किए। विज्ञान क्षेत्र, अर्थ, क्षेत्र, युद्ध क्षेत्र आदि में उसकी उपलब्धियाँ अन्य प्राणियों से अधिक हैं, किंतु उसका यह दावा करना गलत है कि सभी बातों में बढ़ा-चढ़ा है।

प्रकृति को अपनी सभी संतानों से समान प्यार है और उसने सबको आवश्यकतानुसार विभूतियाँ प्रदान की हैं, यह बात और है कि मनुष्य के हिस्से में बुद्धि तत्त्व अधिक आया और इसके बल पर वह अनेक क्षेत्रों में विकास कर सका, लेकिन इसी आधार पर मनुष्य को अहमन्य नहीं मानना चाहिए। उसकी यह अहमन्यता एक सीमा तक ही सही है। छोटे-छोटे जीव जिन्हें आमतौर पर तुच्छ और नगण्य समझा जाता है, वे कई क्षेत्रों में अपनी विशेषताओं के कारण मनुष्य से आगे हैं।

मनुष्यों को गर्व हो सकता है कि वे दुनिया भर में छाये हुए हैं और उनकी संख्या ६०० करोड़ है। इस अहंकार को टिड्डी दल चुनौती दे सकता है और कह सकता है कि हमारी संख्या एवं शक्ति इतनी अधिक है, जिसका सामना मनुष्यों की बुद्धि और सामर्थ्य नहीं कर सकती। युद्ध कौशल और आत्मरक्षा के प्रयत्नों में छिपकली मनुष्य जाति के बड़े-बड़े सेनापतियों और छापामारों को चुनौती देती है। समय पड़ने पर वह प्रबल शत्रु को ऐसा

चकमा देती है कि प्रस्तुत प्राण संकट से वह सहज ही बच निकले।

छिपकली की पूँछ दुधारे शस्त्र का काम करती है। गोह—गिरगिट जाति की बड़ी छिपकलियाँ अपनी पूँछ का ऐसा प्रहार करती हैं जैसा कि गधे, घोड़े दुलत्ती झाड़ते हैं। उसकी करारी चोट खाकर शत्रु तिलमिला उठता है और उसे भागते ही बनता है।

छोटी छिपकलियाँ जब किसी बलवान् शत्रु से घिर जाती हैं तो अपनी पूँछ फटकार कर, उसे तोड़कर अलग कर देती हैं। तेजी से हिलती हुई उस कटी पूँछ को ही शत्रु पूरी छिपकली समझ लेता है और उसी से गुँथ जाता है, उसी बीच छिपकली भाग खड़ी होती है और अपनी प्राण रक्षा कर लेती है। आश्चर्य यह है कि उस कटी पूँछ के स्थान पर फिर नई पूँछ उग आती है और कुछ ही दिन में पहले जैसी बन जाती है।

शत्रुओं से निपटने के लिए मनुष्य युद्ध सामग्री सैन्य-सज्जा के अनेकानेक अस्त्र-शस्त्र का निर्माण कर रहा है, जिनमें विषाक्त गैसें और अणु आयुध भी सम्मिलित हैं। एक देश दूसरे को अपना शत्रु मानता है। उसका अस्तित्व मिटा देने के लिए बढ़े-चढ़े दावे पेश करता है, क्या यह धमकियाँ सफल हो सकती हैं, यह पूछने के लिए चूहा चुनौती देता है और अँगूठा दिखाता है कि तुम मनुष्य प्राणी मुझे अपना शत्रु मानते हो और मेरी हस्ती दुनिया से मिटा देने के लिए पीढ़ियों से सिर तोड़ प्रयत्न कर रहे हो, पर इसमें कितनी सफलता मिली ? यदि तुम मुझ साधनहीन चूहे का कुछ नहीं बिगाड़ सकते तो शत्रु देशों का क्या कर लोगे ? तुम्हीं सब कुछ तो नहीं हो—मारने वाले से बचाने वाला ईश्वर बड़ा है, यह क्यों भूल जाते हो ?

चूहों से कैसे निपटा जाय, यह बड़ा पेचीदा प्रश्न है। इस दिशा में मनुष्य का बुद्धि-कौशल लगातार मात खाता चला आता है। चूहेदान पिंजड़े दो चार दिन काम करते हैं। अपने साथियों की

दुर्गति देखकर वास्तविकता समझने में उन्हें देर नहीं लगती। पीछे पिंजड़े में कुछ भी रखते रहिए—एक भी उसमें नहीं फटकेगा। जो उधर ललचा रहा होगा, उसे भी साथी लोग सावधान कर देते हैं। अजनबी घर में पहुँचकर, बिल्ली उन्हें दबोच सकती है, पर जब वह उसी घर में रहने लगती है तो चूहे वे दाँव-पेच निकाल लेते हैं, जिनसे उन पर कोई विपत्ति न आये। कहीं-कहीं तो मजबूत चूहे मिलकर कमजोर बिल्ली पर आक्रमण तक कर बैठे हैं। साधारणतया अभ्यस्त चूहे बिल्ली से डरते नहीं वरन् अँगूठा दिखाते हुए आँख मिचौनी खेलते रहते हैं। गोदामों की सुरक्षा के लिए नेवले-साँप, बीजल, फेरेट पाले गये, ताकि वे चूहों से निपट सकें, पर इसका भी कोई बहुत अच्छा परिणाम न निकला।

चूहों से फैलने वाली बीमारी पिछले दिनों प्लेग ही मानी जाती थी, पर अब पता चला है कि वे टाइफसट्रिक्रिना-सेप्टास्पाइरोसिस सरीखे अन्य कई भयानक रोग भी पैदा करते हैं। चूहों को मारने के लिए पिछले दिनों कई विष प्रयुक्त होते रहते हैं। स्ट्रिक्लीन-जिंक, फास्फाइड वारफैरिन आदि का प्रयोग किया जाता रहा है। इन्हें उपयुक्त मात्रा में खा लेने पर तो वे मर जाते हैं, पर यदि थोड़ी मात्रा में ही खाएँ तो उनका शरीर इन विष रसायनों से आत्मरक्षा करने में अभ्यस्त हो जाता है। फिर वे मजे से उसे खाते रहते हैं। उनकी पीढ़ियाँ इस प्रकार की बन जाती हैं कि इन घातक विषों का भी उन पर कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

धरती केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं बनाई गई है, उस पर रहने का और निर्वाह साधन प्राप्त करने का अन्य प्राणियों को भी अधिकार है। मनुष्य चाहता है कि उसे धरती ही की सारी उपलब्धियाँ मिल जाएँ, अन्य प्राणी, जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह उनसे छीन लिया जाय। इस दृष्टि से उसने चूहों को अपना प्रतिद्वंद्वी हानिकारक शत्रु माना और उनके विनाश के लिए जो कुछ संभव हुआ, वह सब कुछ किया। पर प्रकृति उसके मनोरथ

पूरे नहीं होने दे सकती। उसे मनुष्य की ही तरह अन्य प्राणियों के अस्तित्व की भी रक्षा करनी है। इसलिए उनकी सुरक्षा के लिए भी कुछ न कुछ व्यवस्था जुटा ही देती है।

चुहिया छह महीने में वयस्क हो जाती है और बच्चे देने लगती है। वह एक बार में प्रायः एक दर्जन बच्चे देती है। यदि यह सब जीवित रहें तो एक चुहिया के बच्चे दस वर्ष के भीतर संसार के कोने-कोने में भरे हुए दिखाई पड़ सकते हैं।

प्रकृति मनुष्य से कहती है, "तुम्हारे और बिल्ली, उल्लू आदि मांसाहारी जीवों के प्रयत्नों को निष्फल बनाने के लिए मैंने चुहिया को पर्याप्त प्रजनन शक्ति दे रखी है, उसके रहते तुम कभी भी उस छोटे प्राणी का अस्तित्व समाप्त न कर सकोगे।"

अच्छा होता मनुष्य अपने को संसार के जीव परिवार का एक छोटा सदस्य मानता और सर्वोपरि सर्वाधिकारी का दावा न करके इस तरह रहता, जिससे पारिवारिक-संतुलन की सुंदरता बनी रहती।

● जीव-जंतुओं की विशिष्ट क्षमताएँ

बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में कहीं आगे हैं। यह ठीक है। बुद्धि-वैभव से उसने परिवार, समाज, शासन का संगठन बनाया है। विज्ञान बुद्धिबल की ही देन है। एक-एक सीढ़ी ऊँची चढ़ते हुए मनुष्य जाति उस स्थान पर पहुँच पाई है, जहाँ उसे प्रकृति-संपदा का स्वत्वाधिकारी माना जाता है। पर इतने मात्र से यह नहीं समझना चाहिए कि सृष्टि के अन्य प्राणी मात्र मरने तक का नीरस जीवन जीते हैं। उनके पास आनंद एवं सुविधा-संवर्धन के लिए कोई विशेष चेतना नहीं है। वास्तविकता यह है कि अपनी जीवनचर्या को सुखद और सरल बनाने के लिए, उन्हें ऐसी दिव्य क्षमताएँ प्राप्त हैं, जिनसे मनुष्य एक प्रकार से वंचित ही है। जिस अनुपात से छोटे जीवों को विशेष क्षमताएँ प्रकृति ने प्रदान की हैं, यदि वही मनुष्य को भी मिल सकी होतीं तो वह देव-दानवों की स्थिति में रह रहा होता।

भगवान् ने अपने न्याय वितरण में जहाँ मनुष्य को बुद्धि दी है, वहाँ अन्य प्राणियों को भी बहुत कुछ दिया है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

पशु-पक्षियों की अपनी सांकेतिक भाषा है। उसके आधार पर वे एक-दूसरे से विचार-विनिमय करते हैं। प्रेरणा देते और ग्रहण करते हैं। उनका बोलना, चहचहाना निरर्थक नहीं होता वरन् उसमें अभिव्यंजनाओं की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न आवाजों के आधार पर होती है। इस प्रकार के उच्चारण से वे अपना जी हल्का करते और साथियों को अपनी स्थिति से अवगत कराते हैं। इससे वे सचेत होते, लाभ उठाते और संकट से बच निकलने का उपाय खोजते हैं। मनुष्येत्तर प्राणियों की आवाज टैप करके, उसे उनके साथियों को सुनाया गया तो पाया गया कि वे उससे प्रभावित होते हैं और आवाजों के अनुरूप अपनी हलचलें प्रस्तुत करते हैं।

वन-जातियों एवं शिकारियों का अनुभव है कि साधारण रीति से बिना छल-कपट का मनुष्य आसानी से वन्य-जीवों के बीच आ जा सकता है। इसमें उन्हें कोई विशेष उद्विग्नता नहीं होती, किंतु यदि आखेट के उद्देश्य से कोई उनके समीप पहुँचता है, तो मनोभाव ताड़ने में उन्हें देर नहीं लगती। हड़बड़ाकर वे आत्मरक्षा के लिए दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य द्वारा बंदूक आदि कपड़ों में छिपाकर ले जाने से भी, उन्हें संकट को पहचानने में देर नहीं लगती। मनुष्य में मनोभाव ताड़ने की यदि ऐसी क्षमता होती, तो उसे अपने स्वजन, साथियों द्वारा बार-बार ठगे जाने की स्थिति क्यों आती ?

भूखे सिंह की आकृति देखकर ही आसपास चरने वाले वन्य पशु जान बचाकर भाग खड़े होते हैं। इसके विपरीत जब उसका पेट भरा होता है, तो आँखों से सिंह दिखाई पड़ते रहने पर भी जंगली पशु निर्भयतापूर्वक आसपास ही चरते रहते हैं। इतना ही नहीं, भय होने पर वे भयाक्रांत वाणी बोलकर अन्य साथियों को भी खतरे से सचेत कर देते हैं।

शिकार के समय अथवा अन्य किसी प्रतिद्वंद्वी से उलझते समय सिंहनी अपने बच्चों को किसी सुरक्षित स्थान पर छिपा देती है। बच्चे भी वस्तुस्थिति समझ लेते हैं और दम साधकर बिना हिले-डुले चुपचाप लुके रहते हैं। खतरा समाप्त होने का संकेत पाते ही वे दौड़कर उछलते-कूदते माँ के पास जा पहुँचते हैं। मात्र माँ के मनःस्थिति के सहारे परिस्थितियों को समझ लेना और अपनी बाल चंचलता को बुद्धिमतापूर्वक दबाये रहना इन शावकों की अनौखी समझदारी कही जा सकती है।

पक्षियों में एक तरह की अंतर्दृष्टि भी होती है और गुप्त चेतावनी-व्यवस्था भी। मनुष्य अपने शत्रु-मित्र की पहचान में अक्सर भूलें करता है, पर पक्षियों में इस विषय में जन्मजात क्षमता पाई गई है। एक वैज्ञानिक प्रयोग में एक कागज के एक ओर हंस का-सा और दूसरी ओर बाज जैसा आकार दिया गया तथा मुर्गी के नन्हें-नन्हें बच्चों के एक पिंजड़े के चारों तरफ इस नकली दो मुँहे पक्षी को घुमाया गया। यह देखा गया कि जब उन बच्चों के सामने हंस का आकार आता, तो वे सहज रहते, पर जब बाज जैसी आकृति दिखती, उनमें भय और खलबली दौड़ जाती। उन बच्चों को बाज के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पाई थी, न ही बाज उन्होंने कभी देखा था, तो भी वे शत्रु-मित्र की पहचान कर सके।

प्रख्यात पक्षी वैज्ञानिक डॉ० ज्योमैफ्रेथ्यूस का कहना है कि पक्षियों के भीतर एक 'जीव वैज्ञानिक तथा समय व दिशासूचक यंत्र' होता है, जिससे वे सूर्य और नक्षत्रों की स्थिति जानते हैं तथा सहस्त्रों मील लंबी यात्राएँ करते व समुद्र को सही दिशा में उड़कर पार करते हैं।

यह भी देखा गया है कि पिंजड़े में बंदी वे पक्षी, जिनकी लंबी उड़ानों की ऋतुएँ निश्चित होती हैं, उस ऋतु के आगमन पर उदास हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें उड़ने को नहीं मिलता।

सोलोमन व डालफिन मछली प्रजनन के समय अपने जन्म-स्थल पर पहुँचती है। इसके लिए उन्हें सैकड़ों मील की यात्रा करनी होती है।

ईल नामक सर्पमीन बिना रडार या कुतुबनुमा के ही यूरोप की नदियों से सागर तट तक निश्चित स्थानों पर हजारों मील चलकर पहुँच जाती है। मादा ईल यूरोप की मीठे पानी वाली नदियों में रहती है और नर ईल अतल समुद्र में। ८-१० वर्ष की होने पर मादा ईलें जुलाई, अगस्त में यूरोप की इन नदियों से समुद्र की ओर कूच कर देती हैं। बिना किसी दिशा सूचक यंत्र या घड़ी के ये निश्चित समय पर समुद्री मुहानों तक पहुँच जाती हैं, जहाँ नर ईल अपना भूरा कलेवर बदलकर रजतवर्णी आभा लिये और सतरंगी आकांक्षाओं के साथ प्रतीक्षा करते रहते हैं। जैसे ही मादा ईलें समुद्री मुहानों पर पहुँचती हैं और अपने-अपने प्रियतम को देखती हैं, उनकी गुलाबी भावनाएँ वेगवती हो उठती हैं और दोनों एक-दूसरे से लिपट जाते हैं तथा प्रणय-केलि करते गहरे समुद्र में पहुँच जाते हैं। वहीं डुबकी लगाकर ३ सौ से १५ सौ मीटर तक की गहराई में मादा ईलें अंडे देती हैं। उन पर नर ईल अपने शुक्राणु डालते जाते हैं। यही गर्भाधान की क्रिया है। पर प्रसव के बाद ही मादा और उसके साथ ही नर ईल देह त्याग देते हैं। संभवतः कर्तव्य-संपादन की संतुष्टि उनको दीर्घ विश्राम की प्रेरणा देती हैं। नन्हें बच्चों का पालन प्रकृति करती है। बड़े होने पर ये बच्चे समुद्र की सतह पर आ जाते हैं। जीवाणु और घास खाते तथा धूप सेवन करते हैं। एक वर्ष में वे तीन इंच लंबे हो जाते हैं, मुहाने पर पहुँचते हैं। ईल-किशोरियों की देह समुद्री मुहाने पर पहुँचते ही गुलाबी हो उठती है।

बसंत ऋतु में वे उन्हीं मीठी पानी वाली नदियों की ओर चल पड़ती है। नर-ईल वहीं रह जाते हैं। ८-१० वर्ष बाद यही मादा-ईल सहसा प्रणयाकांक्षा से भरकर चल देती हैं, समुद्री मुहाने की ओर।

विशालकाय ह्वेल मछलियाँ भी अनुकूल वातावरण की खोज में समुद्र में हजारों मील दूर तक चली जाती हैं और भटकती कदापि नहीं।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चला है कि कीड़े-मकोड़े और छोटे जीव-जंतु भिन्न-भिन्न भाँति के संदेशों को संप्रेषित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अत्यंत हल्की गंध प्रसारित करते हैं, जिसे मनुष्य नहीं सूँघ सकता, लेकिन संबद्ध जाति के कीड़े-मकोड़ों में उसकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है।

उदाहरणार्थ—प्रत्येक वर्ग की चींटियों के नवजात शिशु (जो अंडे से शिशु रूप ग्रहण करता है) में एक विशेष गंध होती है, जो सिर्फ उसी कुनबे की चींटियों में वात्सल्य भाव तथा मातृत्व की भावना जगाती है।

खोजों से ही पता चलता है कि चींटियों समेत अनेक कीड़ों में कई-कई तरह के गंध-प्रसारण या कि गंध-रसायन अलग-अलग प्रभाव पैदा करते हैं। एक गंध ऐसी होती है, जिसके सहारे कीड़ों का दल अपने मुखिया का सही अनुगमन करता है—रास्ते में भूलता-भटकता नहीं। एक गंध ऐसी होती है, जिसे सूंघकर नर मादा की गर्भ धारणा की संभावना को समझकर, उससे सहवास करता है। ये सभी गंध रसायन 'फेरोमोन' कहे जाते हैं।

एक 'फेरोमोन' ऐसा होता है, जिसके द्वारा मादा नर को आकर्षित करती है। एक अन्य फेरोमोन के द्वारा वह अपने वांछित नर का दूसरी सभी मादाओं के प्रति आकर्षण कम करती है।

एक 'फेरोमोन' ऐसा होता है, जिसके द्वारा नर, अपनी प्रिय मादा से, दूसरे सभी नरों को दूर रखता है।

अमरीका में कपास के ढोंढे को कीड़ों से बचाने के लिए फेरोमोन का उपयोग होता है। फसलों की कीड़ों से रक्षा के लिए भी इनके उपयोग की दिशा में काम चल रहा है। जिस वर्ग के कीड़ों को मारना हो, उनके लिए आकर्षित करने वाला फेरोमोन

तैयार कर खेत से दूर एक पिंजड़े में उसे रख दिया जाय, तो उस वर्ग के समस्त कीड़े उस पिंजरे में खिंचे चले आयेंगे। फिर उनको मारा जा सकता है।

इससे कीटाणुनाशक दवाओं से होने वाली हानि नहीं हो पायेगी, क्योंकि कीटनाशक दवाएँ सिर्फ फसल को नुकसान करने वाले कीड़े ही नहीं मारतीं, अक्सर उपयोगी कीड़े भी मार डालती हैं। साथ ही ये कीटनाशक पानी के साथ बहकर, नदी-नाले में पहुँचकर वहाँ जल जीवों को भी क्षति पहुँचाते हैं। फेरोमोन से ये सब नुकसान नहीं होंगे, बस मन चाहे कीड़ों को आकर्षित कर उनका काम तमाम किया जा सकता है।

यद्यपि कृत्रिम फेरोमोन का निर्माण है कठिन, पर उस दिशा में तेजी से कार्य जारी है।

ऋतु-परिवर्तन की पूर्व सूचना देने वाले पक्षियों तथा कीड़ों से किसान लोग सहज ही यह जान लेते हैं कि निकट भविष्य में ऋतुओं संबंधी क्या हेर-फेर होने जा रहा है। किसी मकान के गिरने की संभावना हो, तो बिल्ली अपने बच्चों को वहाँ से पहले ही उठा ले जाती है। भूकंप आदि प्राकृतिक दुर्घटनाओं की पूर्व सूचना भी कई पशुओं की विचित्र हलचलें देखकर प्राप्त की जा सकती हैं। रात को कुत्ते अधिक रोते हों तो समझा जाता है कि यहीं कहीं मरण का कुचक्र घूम रहा है। कुत्तों की घ्राण शक्ति इतनी सधी हुई होती है कि वे जिस मार्ग से बहुत दूर तक ले जाये गये थे, उसी से उल्टे पाँवों लौट आते हैं। यह कार्य वे उस रास्ते में पिछली बार छूटी हुई अपने ही पैरों की गंध सूँघकर संपन्न करते हैं। कुत्तों द्वारा चोरी का पता लगाने की पुलिस व्यवस्था में उनकी घ्राण शक्ति का ही प्रयोग होता है।

तैरने वाले, घूमने वाले, उड़ने वाले प्राणियों की सामान्य हलचलें ऐसे ही बेसिलसिले की तथा अटपटी दिखाई पड़ती हैं, पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मकड़ी, मधु-मक्खी, चींटी, दीमक जैसे तुच्छ प्राणियों की विलक्षण बुद्धि को देखकर चकित रह

जाना पड़ता है, वे अपने साधनहीन और पिछड़े समझे जाने वाले जीवन क्रम को सरल एवं आनंदित बनाए रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान् ने हर प्राणी को उसकी स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप ऐसे साधन दिये हैं, जिसमें किसी के साथ पक्षपात या अन्याय हुआ न कहा जा सके।

● खाली हाथ अन्य जीव भी नहीं

ईश्वर ने एक किस्म के खिलौने मनुष्य को दिये हैं, तो दूसरी किस्म के खिलौने भगवान् ने अपने इन छोटे बच्चों को—अन्य जीवों को भी दे रखे हैं और खाली हाथ इन्हें भी नहीं रहने दिया गया है।

दीमक और चींटियाँ परस्पर अंग स्पर्श करके—एक-दूसरे साथी को अपनी बात बताती और उसकी सुनती हैं। इस पारस्परिक जानकारी के आधार पर, उन्हें अपना भावी कार्यक्रम बनाने में बड़ी सहायता मिलती है।

तितलियाँ और पतंगे अपने शरीर से समय-समय पर भिन्न प्रकार की गंध छोड़ते हैं, उस गंध के आधार पर उस जाति के दूसरे पतंगे अपने साथियों की स्थिति से अवगत होते हैं और उपयोगी सूचनाएँ संग्रह करते हैं। किस दिशा में उपयोगी और किसमें अनुपयोगी परिस्थितियाँ हैं, उसका ज्ञान वे साथी पतंगों के शरीर से निकलने वाली गंध से ही प्राप्त करते हैं। उनकी दृष्टि दुर्बल होती है। आँखें उनकी इतनी सहायता नहीं करती जितनी कि नाक।

बहुत पतंगे एक-दूसरे के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके अपने विचार उन तक पहुँचाने और उनके जानने की प्रक्रिया पूरी करते हैं। मनुष्य का संभाषण वाणी से अथवा भाव-भंगिमा के माध्यम से संपन्न होता है। पतंगे यही कार्य परस्पर अंग स्पर्श से करते हैं। जीभ से उच्चारण न कर सकने पर भी वे एक-दूसरे की शारीरिक और मानसिक स्थिति जान लेते हैं। इस प्रकार

उनका पारस्परिक संपर्क एक-दूसरे के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। मधुमक्खियों के पैर बहुत संवेदनशील होते हैं, वे उन्हें रगड़कर एक प्रकार का प्रवाह उत्पन्न करती हैं। उससे न केवल ध्वनि ही होती है, वरन् ऐसी संवदेना भी रहती है, जिसे उसी वर्ग की मक्खियाँ समझ सकें और उपयोगी मानसिक आदान-प्रदान से लाभान्वित हो सकें।

टिड्डे और झींगुर अपने पिछले पैर और पंख रगड़कर अनेक चढ़ाव-उतार संपन्न ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न करते हैं। सितार, सारंगी या बेला के तारों का घर्षण जिस प्रकार कई तरह की स्वर लहरी पैदा करता है, उसी तरह टिड्डे तथा झींगुरों के पैरों तथा पंखों के माध्यम से प्रस्फुटित होने वाला स्वर-प्रवाह अनेक प्रकार का होता है और अनेक प्रकार के भाव तथा संकेत छिपे रहते हैं।

जीव विज्ञानी जर्मन वैज्ञानिक डॉक्टर फैबर ने योरोप भर में घूमकर विभिन्न जातियों के टिड्डे, झींगुरों की ध्वनियों का टैप संकलन किया है। उन्होंने ४०० प्रकार के शब्दों पाए, जो निरर्थक नहीं सार्थक थे और सुरुचि पैदा करते थे। उन्होंने १४ प्रकार के प्रणय गीत भी इकट्ठे किये, जिनमें प्रणय निवेदन के उतार-चढ़ाव आग्रह, अनुरोध, आकर्षण, निषेध, मनुहार, प्रलोभन, सहमति, असहमति की मनःस्थिति की जानकारी सन्निहित थी। इसके अतिरिक्त वे अन्य मनोभाव अपने वर्ग तक पहुँचाने के लिए—अपनी अंतःअभिव्यक्ति के लिए यह ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न करते हैं। इसका विस्तृत विश्लेषण और विवरण डॉक्टर फैबर ने तैयार किया है। ग्राईलस, कंपोस्टिस, ग्राइवो, मेकूलेटस जाति के झींगुरों की शब्दावली और भी अधिक विकसित पाई गई।

मधु मक्खियाँ जब घर लौटती हैं, तो अपनी दैनिक उपलब्धियों की जानकारी छत्ते की अन्य मक्खियों को देती हैं, इसके लिए उसका माध्यम नृत्य होता है। स्थिति की भिन्नता को सूचित करने के लिए उनकी अनेक नृत्य पद्धतियाँ निर्धारित हैं।

इसी परिसंवाद से वे परस्पर एक-दूसरे की उपलब्धियों से परिचित होती हैं और अगले दिन के लिए अपना क्रम परिवर्तन निश्चित करती हैं। कार्लवाल फ्रंच का मधु मक्खियों संबंधी अध्ययन अति विशाल है। रानी मधुमक्खी जब ऋतुमय होती है, तो उसके शरीर से निकलने वाले आक्सोइका और ड्रनोइक द्रव हवा में उड़कर नरों तक संदेश और आमंत्रण पहुँचाते हैं।

कुछ लघुकाय कीट-पतंग केवल अपने नेत्र संचालन और मुख मुद्रा में थोड़ा हेर-फेर करके अपनी मनःस्थिति से साथियों को अवगत करते हैं। प्रो० रावर्ट हिंडे ने कितनी ही चिड़ियों को केवल नेत्र संकेतों से वार्तालाप करते देखा है। एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की आवश्यकता वे आँखों में रहने वाली संवेदना से कर लिया करती हैं। जुगनू अपने मनोभाव पूँछ में से प्रकाश चमकाकर प्रकट करते हैं। प्रकाश के जलने-बुझने का क्रम उस वर्ग के दूसरे जुगुनुओं के चमकते हुए प्रकाश के माध्यम से पारस्परिक परिचय तथा एक-दूसरे की स्थिति समझने का अवसर मिलता है।

मेंढ़कों का टर्राना एक स्वर से नहीं होता और न निरर्थक। वे अपनी स्थिति की सूचना इस टर्राहट के द्वारा साथियों तक पहुँचाते हैं। इसलिए इस टर्राने में कितने ही प्रकार के उतार-चढ़ाव पाए जाते हैं। पक्षियों में कौए की भाषा अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत है। वे अपने वर्ग की ही बात नहीं समझते वरन् आस-पास रहने वाले अन्य पक्षियों की भाषा भी बहुत हद तक समझ लेते हैं और उस जानकारी के आधार पर चतुरतापूर्वक लाभ उठाते हैं।

आमतौर से छोटे जीव-जंतुओं के पारस्परिक संवाद के विषय होते हैं—सहायता की पुकार, खतरे की सूचना, क्रोध की अभिव्यक्ति, हर्षोल्लास का गीत-राग, व्यथा-वेदना का क्रंदन, ढूँढ़-तलाश। इन प्रयोजनों के लिए, उन्हें अपने वर्ग के साथ संबंध जोड़ना पड़ता है। ऐच्छिक या अनैच्छिक कुछ भी हो, यह विचार

विनिमय उनके लिए उपयोगी ही सिद्ध होता है। यदि इतना भी वे न कर पाते तो सामाजिक जीवन का सर्वथा अभाव, नितांत एकाकीपन उन्हें और भी अधिक कष्टमय स्थिति में धकेलता है।

नीलकंठ पक्षी द्वारा मछली का शिकार देखते ही बनता है। वह पेड़ की डाली पर बैठा हुआ घात लगाये रहता है और जहाँ मछली दिखाई पड़ी कि बिजली की तरह टूटता है और पानी में गोता लगाकर मछली पकड़ लाता है। आश्चर्य इस बात का है कि जिस डाली पर से, जिस स्थान से वह कूदा था, लौटकर ठीक वहीं वापिस आता है और वहीं बैठता है—यह स्प्रिंग पद्धति का क्रियाकलाप है। दीवार पर फेंककर मारी गई गेंद लौटकर फेंकने के स्थान पर ही आती है। नीलकंठ प्रकृति के उसी सिद्धांत का जीता-जागता नमूना है।

तोता, मैना, बुलबुल, रोविन, चटक, कनारी, कुलम जैसे कितने ही पक्षी मनुष्य की बोली की नकल उतारने में सक्षम होते हैं। पढ़ाए हुए तोता-मैना, राधा-कृष्ण, सीता-राम, कौन हैं ? क्यों आये ? आदि कितने ही शब्द याद कर लेते हैं और समय-समय पर उन्हें दुहराते रहते हैं। 'अमेजन' जाति का तोता तो १०० शब्दों तक की नकल उतार सकता है। आस्ट्रेलियायी तोते १० तक गिनती गिन ही न लेते वरन् उस संख्या को पहचान भी लेते हैं।

कबूतरों की संदेशवाहक के रूप में काम करने की क्षमता प्रसिद्ध है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने और वापस लौटने में उन्हें सिखाया जा सकता है। डाक-तार की सुविधा से पूर्व वे संदेशवाहक का काम खूबी के साथ निबाहते थे। पैरों में पत्र बाँध दिया जाता था, वे निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचते थे और उत्तर को दूसरा पत्र उसी पैर में बँधवाकर वापस अपने स्थान को लौट आते थे।

शिकारी जानवरों के दाँत साफ करने के लिए कितने ही पक्षी अभ्यस्त रहते हैं। मगर, बाघ आदि अपने दाँतों की सफाई

कराने के लिए मुँह फाड़कर पड़े रहते हैं और वे चिड़ियाँ अपने शरीर का बहुत-सा हिस्सा उनके जबड़े में डालकर दाँतों की सफाई करती रहती हैं। उन्हें जरा भी डर नहीं लगता कि वे हिंसक पशु यदि चाहें तो जबड़ा बंद करके उनका कचूमर बना सकते हैं। यह चिड़ियाँ निर्भय ही नहीं होतीं वरन् उनकी सहायता भी करती हैं। जहाँ शिकार होता है वहाँ चहचहाकर, उनका मार्ग दर्शन और प्रोत्साहन भी करती हैं।

चमगादड़ अपनी श्रवणेंद्रिय के आधार पर आकाश में गतिशील विविध कंपनों का अनुभव करती हैं और नेत्रों का प्राय: बहुत-सा काम उसी से चला लेती हैं।

हाथी की दृष्टि बहुत मंद होती है। प्राणियों के समीप में उपस्थित वह गंध के आधार पर ही भाँपता है। कुत्ता अपने प्रिय या परिचित व्यक्ति की ढूँढ़-खोज गंध के आधार पर करता है। हवा का रुख विपरीत हो और गंध का प्रवाह उल्टा हो जाये तो सौ गज दूर खड़े मालिक को पहचानना भी उसके लिए कठिन होगा। पक्षियों की पहचान रंगों पर निर्भर है। उनके नेत्र रंगों के बहुत छोटे आवागमन की राह निर्धारित करते हैं।

सील मछली अपने बच्चे की नन्हीं-सी आवाज हजारों अन्य मछलियों के कोलाहल में से पहचान लेती है। मौटेतौर से उस समूह में एक ही शकल के अनेकों शिशु वयस्क होते हैं, पर सील अपने बच्चे की पुकार सनते ही तीर की तरह उसी पर जा पहुँचती है। बीच के व्यवधान को हटाने में, अपने-पराये की ठीक पहचान करने में उससे जरा भी भूल नहीं होती।

वया पक्षी का घोंसला कितना सुंदर और व्यवस्थित होता है। घोर वर्षा होते रहने पर भी उसमें पानी की एक बूँद भी नहीं जाती। आँधी-तूफान आते रहते हैं, पर वे घोंसले टहनियों पर मजबूती के साथ टंगे रहते हैं। वया अपने बच्चों सहित उसमें मोद मनाती रहती है, जबकि ऋतु प्रतिकूलता के कारण अन्य जीवधारी कई तरह के कष्ट उठाते रहते हैं।

जीवधारियों की इन विशेषताओं को देखते हुए यही मानना पड़ता है कि वे भी मनुष्य की तरह ही भगवान् को प्रिय हैं और उन्हें भी कितनी ही तरह की विशेषताएँ, विभूतियाँ दी गयीं हैं। अपने उन छोटे भाइयों के प्रति न तुच्छता का भाव रखा जाना उचित है और न उन्हें सृष्टि का निरर्थक प्राणी समझना चाहिए। मनुष्य जिस प्रकार अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है वैसे ही अन्य जीव-जंतु भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अपने लिए वे उतने ही श्रेष्ठ व महान् हैं जितना कि मनुष्य अपने को स्वयं को मानता है। इन प्राणियों का जीवन और विलक्षणताएँ इस बात की प्रतीक भी हैं कि परमपिता परमात्मा को अपनी सभी संतानें समान रूप से प्यारी हैं। उसकी दृष्टि में न कोई बड़ा और न कोई छोटा।

❑ ❑

प्राणी जगत् की अतृप्त प्यास—प्रेम

सृष्टि का हर प्राणी, हर जीव-जंतु स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न हैं। कुछ अच्छे, कुछ बुरे गुण सब में पाये जाते हैं, पर प्रेम के प्रति सद्‌भावना और प्रेम की प्यास से वंचित कोई एक भी जीव सृष्टि में दिखाई नहीं देता। मनुष्य जीवन का तो संपूर्ण सुख और स्वर्ग ही प्रेम है। प्रेम जैसी सत्ता को पाकर भी मनुष्य अपने को दीन-हीन अनुभव करे तो यही मानना पड़ता है कि मनुष्य ने जीवन के यथार्थ अर्थ को जाना नहीं।

अमरीका के मध्य भाग में पाई जाने वाली एक छिपकली के सिर पर अनेक सींग होते हैं। यह मांसाहारी जंतु क्रोध की स्थिति में होता है तो उसकी आँखों में रक्त उतर आता है, फिर वह शत्रु पर कैसा भी भयंकर आक्रमण करने से नहीं चूकती ? इसका सारा जीवन ही चींटियों, गिराड़ों को मारने-खाने में बीतता है, पर अपनी प्रेयसी के प्रति उसकी करुणा भी देखते ही बनती है, उसके लिए तो वह गिलहरी और खरगोश की तरह दीन बन जाती है।

बिच्छू बड़ा क्षुद्र जंतु है, किंतु प्रेम की प्यास से मुक्त वह भी नहीं। वह अपने बच्चों से इतना प्यार करती है कि उन्हें जब तक वे पूर्ण समर्थ नहीं हो जाते, अपनी पीठ पर चढ़ाये घूमती है। भालू खूँखार जानवर है, वह भूखा नहीं रह सकता; पर जब कभी मादा भालू बच्चे देगी तो जब तक बच्चों की आँखें नहीं खुल जायेंगी, वह उनके पास ही बैठी भूख-प्यास भूलकर उन्हें चूमती-चाटती रहेगी।

चींटियों के जीवन में सामान्यतः मजदूर चींटियों में कोई विलक्षणता नहीं होती। उनमें अपनी बुद्धि, अपनी निजी कोई इच्छा भी नहीं होती है। एक नियम व्यवस्था के अंतर्गत जीती रहती हैं,

तथापि प्रेम की आकांक्षा उनमें भी होती है और वे अपने उस कोमल भाव को दबा नहीं सकतीं। इस अंतरंग भाव की पूर्ति वे किसी और तरह से करती हैं। वह तितली के बच्चे से ही प्रेम करके अपनी आंतरिक प्यास बुझाती हैं। यद्यपि यह सब एक प्राकृतिक प्रेरणा जैसा लगता है, पर मूलभूत भावना का उभार स्पष्ट समझ में आता है। तितलियाँ फलों की मधु चूसती रहती हैं, उससे उनके जो बच्चे होते हैं, उनकी देह भी मीठी होती है। माता-पिता के स्थूल शारीरिक गुण बच्चे पर आते हैं, यह एक प्राकृतिक नियम है। तितली के नन्हे बच्चे, जिसे लार्वा कहते हैं, मजदूर चींटियाँ सावधानी से उठा ले जाती हैं। उसके शरीर के मीठे वाले अंग को चाट-चाटकर चींटी अपने परिवार के लिए मधु एकत्र कर लेती है, पर ऐसा करते हुए स्पष्ट-सा पता चलता रहता है कि यह एक स्वार्थपूर्ण कार्य है। इससे नन्हें-से लार्वे को कष्ट पहुँचता है, इसलिए वह थोड़ी मिठास एकत्र कर लेने के तुरंत बाद उसे बच्चे को परिचर्या भवन में ले जाती हैं और उसकी तब तक सेवा-सुश्रूषा करती रहती हैं, जब तक लार्वा बढ़कर एक अच्छी तितली नहीं बन जाता। तितली बन जाने पर चींटी उसे हार्दिक स्वागत के साथ घर से विदा कर देती है। जीवशास्त्रियों के लिए चींटी और तितली को यह प्रगाढ़ मैत्री गूढ़ रहस्य बनी हुई है। उसकी मूल प्रेरणा अंतरंग का वह प्यार ही है, जिसके लिए आत्माएँ जीवनभर प्यासी इधर-उधर भटकती रहती हैं।

आस्ट्रेलिया में फैलेंजर्स नामक गिलहरी की शक्ल का एक जीव पाया जाता है। इसे सुगर स्क्वैरेल भी कहते हैं। यह एक लड़ाकू और उग्र स्वभाव वाला जीव है, तो भी उसकी अपने बच्चों और परिवारीय जनों के प्रति ममता देखते बनती है। वह जहाँ भी जाती है, अपनी एक विशेष थैली में बच्चों को टिकाये रहती है और थोड़ी-थोड़ी देर में उन्हें चाटती और सहलाती रहा करती है। मानो वह अपने अंतःकरण की प्रेम भावनाओं के उद्वेग को सँभाल

सकने में असमर्थ हो जाती हो। जीव-जंतुओं का यह प्रेम-प्रदर्शन यद्यपि एक छोटी सीमा तक अपने बच्चों और कुटुंब तक ही सीमित रहता है तथापि वह इस बात का प्रमाण है कि प्रेम जीव मात्र की अंतरंग आकांक्षा है। मनुष्य अपने प्रेम की परिधि अधिक विस्तृत कर सकता है। इसलिये कि वह अधिक संवेदनशील और कोमल भावनाओं वाला है। अन्य जीवों का प्यार पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो पाता, इसलिये वे अपेक्षाकृत अधिक कठोर, स्वार्थी और खूँखार से जान पड़ते हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि यदि उनके अंतःकरण में छिपे प्रेमभाव से तादात्म्य किया जा सके तो उन हिंसक व मूर्ख जंतुओं में भी प्रकृति का अगाध सौंदर्य देखने को मिल सकता है। भगवान् शिव सर्पों को गले से लटकाये रहते हैं। महर्षि रमण के आश्रम में बंदर, मोर और गिलहरी ही नहीं सर्प, भेड़िये आदि तक अपने पारिवारिक झगड़े तय कराने आया करते थे। सारा 'अरुणाचलम्' पर्वत उनका घर था और उसमें निवास करने वाले सभी जीव-जंतु—उनके बंधु-बांधव, सुहृद, सखा पड़ौसी थे। स्वामी रामतीर्थ हिमालय में जहाँ रहते वहाँ शेर, चीते प्रायः उनके दर्शनों को आया करते और उनके समीप बैठकर घंटों विश्राम किया करते थे। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारा प्रेमभाव विस्तृत हो सके, तो हम अपने को विराट् विश्व परिवार के सदस्य होने का गौरव प्राप्त कर एक ऐसी आनंद निर्झरिणी में प्रवाहित होने का आनंद लूट सकते हैं, जिनके आगे संसार के सारे सुख-वैभव फीके पड़ जाएँ।

६१७ वर्ष पूर्व की घटना है, रोम में एक महिला अपने बच्चे से खेल रही थी। वह कभी उसे कपड़े पहनाती, कभी दूध पिलाती, इधर-उधर के काम करके फिर बच्चे के पास आकर उसे चूमती, चाटती और अपने काम में चली जाती। प्रेम भावनाओं से जीवन की थकान मिटती है। लगता है अपने काम की थकावट दूर करने के लिए उसे बार-बार बच्चे से प्यार जताना आवश्यक हो जाता था। घर के सामने एक ऊँचा टावर था, उसमें बैठा हुआ एक

बंदर यह सब बड़ी देर से, बड़े ध्यान से देख रहा था। स्त्री जैसे ही कुछ क्षण के लिए अलग हुई कि बंदर लपका और उस बच्चे को उठा ले गया। लोगों ने भागदौड़ मचायी, तब तक बंदर सावधानी के साथ बच्चे को लेकर उसी टावर पर चढ़ गया।

जैसे-जैसे उसने माँ को बच्चे से प्यार करते देखा था, स्वयं भी बच्चे के साथ वैसे ही व्यवहार करने लगा। कभी उसे चूमता चाटता तो कभी उसके कपड़े उतारकर फिर से पहनाता। इधर वह अपनी प्रेम की प्यास बुझा रहा था, उधर उसकी माँ और घर वाले तड़प रहे थे, बिलख-बिलख कर रो रहे थे। बच्चे की माँ तो एकटक उसी टावर की ओर देखती हुई बुरी तरह चीखकर रो रही थी।

बंदर ने यह सब देखा। संभवतः उसने सारी स्थिति भी समझ ली, इसीलिए एक हाथ से बच्चे को छाती से चिपका लिया, शेष तीन हाथ-पाँव की मदद से वह बड़ी सावधानी से नीचे उतरा और बिना किसी भय अथवा संकोच के उस स्त्री के पास तक गया और बच्चे को उसके हाथों में सौंप दिया। यह कौतुक लोग स्तब्ध खड़े देख रहे थे और देख रहे थे साथ-साथ एक कटु सत्य, किस तरह बंदर जैसा चंचल प्राणी प्रेम के प्रति इस तरह गंभीर और आस्थावान् हो सकता है। माँ के हाथ में बच्चा पहुँचा, सब लोग देखने लगे उसे कहीं कोई चोट तो नहीं आई। इस बीच में बंदर वहाँ से कहाँ गया, किधर चला गया यह आज तक किसी ने नहीं जाना।

पीछे जब लोगों का ध्यान उधर गया तो सबने यह माना कि बंदर या तो कोई दैवी शक्ति थी, जो प्रेम-वात्सल्य की महत्ता दर्शाने आई थी अथवा वह प्रेम से बिछड़ी हुई कोई आत्मा थी, जो अपनी प्यास को एक क्षणिक तृप्ति देने आई थी। उस बंदर की याद में एक अखंड-दीप जलाकर उसी टावर में रखा गया। इस टावर का नाम भी उसकी यादगार में बंदर टावर (मंकी टावर) रखा गया। कहते हैं ६१७ वर्ष हुए यह दीपक आज भी

जल रहा है। दीपक के ६१७ वर्ष से चमत्कारिक रूप से चलते रहने में कितनी सत्यता है, हम नहीं जानते, पर यह सत्य है कि बंदर के अंतःकरण में बच्चे के प्रति प्रसृत प्यार का प्रकाश जब तक यह टावर खड़ा रहेगा, लाखों लोगों का ध्यान मानव जीवन की इस परम् उदात्त ईश्वरीय प्रेरणा की ओर आकर्षित करता रहेगा।

प्रेम की यह आश और प्यास केवल जीवधारियों तक—जिन्हें हम जीवित समझते हैं, उन जानवरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि पेड़-पौधे भी प्राणवान् होते हैं और वे भी प्रेम, स्नेह, सहानुभूति की अपेक्षा करते हैं।

● पेड़-पौधों में भी प्राण हैं

पेड़-पौधों में भी प्राण और जीवन है, इसका प्रमाण छोटे-छोटे प्रयोगों द्वारा भी मिल जाता है। कोई नाक और मुँह बंद कर दे तो मनुष्य मर जाता है। पौधे के किसी पत्ते में छेद कर दिया जाये या उसके दोनों तरफ कागज चिपका दिया जाये तो पत्ता कुछ ही समय में पीला पड़कर गिर जायेगा। यदि तमाम पत्ते न होते तो संभवतः पेड़ ही नष्ट हो जाते। मानना चाहिए कि प्रकृति की हर रचना परमात्मा की कृपा और सृष्टि व्यवस्था का अंग है। कोई ऊबड़-खाबड़ बनावट मात्र नहीं। कुछ पौधे जो जल के भीतर रहते हैं, उनके लिए भी साँस आवश्यक है। योरोप के तालाबों में एक पौधा पाया जाता है, जिनके पत्तों में झिल्ली नहीं होती। उसके लिए मछलियाँ पानी में मिली हुई वायु के कण अलग कर देती हैं, इसी से वह अपना जीवन चलाता रहता है, पर श्वास के बिना जीवित वह भी नहीं रह सकता। वृक्षों के जीवन के यह अकाट्य तर्क हैं।

आत्मा वृक्षों और वनस्पतियों में भी है, इसलिए अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार उनके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिए। वृक्षों को लगाना, उसका पोषण करना भी एक पुण्य माना गया है।

उसी प्रकार उन्हें काटना और बढ़ने न देना पाप कहा गया है। वृक्ष हमें प्राण-वायु, जीवन-तत्त्व, हीरीतिमा, छाया लकड़ी, पुष्प-फल आदि बहुत कुछ देते हैं, ऐसे उपकारी प्राणियों से, वृक्षों से हमें बहुत कुछ सीखना है और उनके जैसा उपकारी बनना है।

यह प्रश्न हो सकता है कि वृक्ष जड़ हैं। उनमें किसी तरह की चेतन संवेदनशीलता नहीं है, इसलिए उनके साथ जड़ जैसा बर्ताव करना पाप या अनुचित कर्म नहीं। इस संबंध में वैदिक मान्यताएँ स्पष्ट ही इस पक्ष में हैं कि वृक्षों में जीवन है, अब उक्त कथन को वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा भी सिद्ध करना संभव हो गया है। सर जगदीशचंद्र बोस का तो जीवन ही इसी बात में लग गया, उन्होंने वृक्षों की संवदेनशीलता के अनेक प्रयोग किए थे। साँस और स्पंदन की गति की नाप और जहरीले पदार्थों का प्रयोग करके यहाँ तक सिद्ध कर दिखाया था कि जिस तरह और प्राणियों के शरीर में विष का प्रभाव होता है, वृक्षों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। हरे-भरे होना वृक्षों का जीवन है तो उनका सूख जाना ही मृत्यु। मनुष्यों की तरह आहार पर जीवित रहने, साँस लेने, सूर्य-रश्मियों से जीवन ग्रहण करने, काम क्रीड़ाएँ आदि विभिन्न क्रियाएँ वृक्ष-वनस्पति भी करते हैं, इसलिये उन्हें प्राणी जगत् का ही एक अंग मानने से इनकार नहीं किया जा सकता।

'केतकीयम' भारतीय शब्द भी इसी मान्यता का प्रतिपादक है कि प्रत्येक वृक्ष के फूलों में नर और मादा किस्में होती हैं और उन दोनों के संयोग से ही उनकी वंशावली का विकास होता है। कई बार यह माध्यम पशु-पक्षियों और हवा आदि के द्वारा भी बनता है, पर यह संयोग प्रत्येक दशा में आवश्यक है। बीजकोष में फल का विकास गर्भ-कोष में पड़े वीर्य से बच्चे के विकास जैसा ही होता है।

वृक्षों में जीवन के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण उसका विश्लेषण है, जिस प्रकार जीवित प्राणी प्रोटोप्लाज्मा नामक तंत्र से

बना होता है, उसका सबसे सूक्ष्म कण सेल कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पति के सबसे छोटे अणु का नाम जीवाणु (बैक्टीरिया) है। इन्हें एक कोशिका वाले पौधे कहा जा सकता है और वह इतने सूक्ष्म होते हैं कि माइक्रोस्कोप की सहायता के बिना देखे नहीं जा सकते हैं और सेल्यूलोज वाले भाग को पचाने का काम करते हैं। जीवाणु कोशिका की लंबाई ०.५ माइक्रोन तक होती है। यह तीन प्रकार के होते हैं, गोलाणु (कोकस), दंडाणु (वैसिलस) और सर्पिलाणु (स्पिरिलस)।

कोशिका जिस तरह प्रोटीन के आवरण में बंद होती है और उसके भीतर केंद्रक (न्यूक्लियस) काम किया करता है, उसी प्रकार जीवाणु कोशिका एक लिसलिसी श्लैष्मपरत (कैपसूल) में बंद (रेजिस्ट) होती है। कोशिका भित्ति की सुरक्षा के लिए प्लाज्मा झिल्ली (प्लाज्मा मैंबरैन) होती है, किंतु किन्हीं जीवाणु कोशिकाओं में केंद्रक नहीं भी होते हैं तो भी उनमें केंद्रकीय पदार्थ (क्रोमिटिन) अवश्य होता है। यह जीवाणु भी अलैंगिक रीति से स्वयं ही बढ़ने की क्षमता रखते हैं—जैसे कि 'प्रोटोप्लाज्मा' केंद्रक।

एक कोशिका से विभाजन प्रारम्भ होता है तो १५ घंटे बाद उसी तरह की एक अरब संतति कोशिकाएँ (डॉटर सेल्स) जन्म ले लेती हैं। ३६ घंटे बाद इनकी तादाद इतनी हो जाती है कि उससे सौ ट्रक भरे जा सकते हैं, यह गति यदि निर्बाध चलती रहे तो ४८ घंटे बाद एक कोशिका से बने अंध कोशिकाओं का भार पृथ्वी के भार से चौगुना अधिक हो जायेगा, किंतु उसकी देह से निकले विषैले पदार्थ इस वृद्धि को रोक देते हैं और वह गति रुक जाती है। वस्तुतः यह बाढ़ मानव जाति के हित में ही है।

जीवाणु सर्वत्र विद्यमान रहकर मनुष्य जाति की बड़ी सेवा करते हैं, एक प्रतिशत जीवाणु ही मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। अन्यथा पौधों और जंतुओं के हानिकारक तत्त्वों और मृत अवशेषों का विघटन यह जीवाणु ही करते हैं। प्रतिवर्ष प्रति पौधा २०० अरब टन कार्बन डाईऑक्साइड गैस लेकर, प्रकाश-किरणों द्वारा

उसे जैव पदार्थ में बदल लेता है। यह कार्बन जीवों द्वारा पैदा की जाती है, यदि जीवाणु यह क्रिया संपन्न न करें तो सारा वायुमंडल कार्बन डाईऑक्साइड से आच्छादित हो जाये और मनुष्य का धरती पर रहना कठिन हो जाये।

जीवाणु की क्रिया और प्रोटोप्लाज्मा की कोशिका (सेल) की क्रिया का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों में एक जैसी चेतना ही दिखाई देती है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि आकृति और कार्य प्रणाली में थोड़ा अंतर है, जो मनुष्य के हित में पूरक ही है। यदि यह पूरक क्रिया संपन्न न हो तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाये। विश्व चेतना का यह अंश मनुष्य के उपयोग में आता है, पर उसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि उनमें आत्मा नहीं है। यदि मनुष्य की प्रजनन प्रणाली, खाद्य प्रणाली, मल-विसर्जन आदि की क्रियाएँ और उसकी पारमाणविक रचना में वृक्ष वनस्पतियों की क्रिया प्रणाली में साम्य पाया जाता है तो उसे विश्वव्यापी चेतना का स्वरूप ही मानना चाहिए। यदि विज्ञान की इन उपलब्धियों से भी मनुष्य यह मानने को तैयार नहीं होता तो उसे हठधर्मी ही कहा जायेगा।

वृक्ष दीखते और समझे भर जड़ जाते हैं, वस्तुतः वे चेतन हैं। एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र सबमें विद्यमान है। यह अनुभव करते हुए हमें विराट् ब्रह्म की असीम चेतना अपने चारों ओर फैली हुई देखनी चाहिए और सबके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। वृक्षों को भी क्षति न पहुँचाएँ, यह उचित है।

शास्त्रकार का कथन है—

खं वायुमग्निं सलिलं मही च,
ज्योतीषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।।

—भक्ति सूक्त २६

तात् ! आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीव-जंतु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूतजात है; वह सब परमात्मा का ही शरीर है। अतएव सबको अनन्य भाव से प्रणाम करें।

उपरोक्त सूक्त में आचार्य संकेत करते हैं कि एक ही चेतन आत्मा सबमें विद्यमान है। यह अनुभव करते हुए हमें विराट् ब्रह्म की असीम चेतना अपने चारों ओर फैली देखनी चाहिए और सबके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

स्थूल दृष्टि से यह बात कुछ असंगत-सी प्रतीत होती है कि जड़ को भी चेतन माना जाये। नदियाँ, पहाड़, दिशाएँ, नक्षत्र भी जीवनधारा हो सकते हैं, इन्हें थोड़ा जटिल कहा जा सकता है, पर वृक्ष-वनस्पति के बारे में तो अब विज्ञान को भी इस बात का संदेह नहीं रहा कि उनमें जीवन नहीं है। जीवधारियों के सारे लक्षण उनमें पाये जाते हैं।

श्वास-क्रिया गति और जीवन का प्रथम लक्षण है। कुछ दशाब्दी पूर्व तक इस संबंध में विज्ञान जगत् पूर्ण अंधकार में था, किंतु जब उन्होंने पौधों के शरीर में जीवन स्पंदन की पुष्टि की तो इस दिशा में वैज्ञानिक तेजी से आकृष्ट हुए और नये-नये आविष्कार-अनुसंधान हुए, जिन्होंने पुष्ट किया कि सचमुच यदि अंतःचेतना का विश्लेषण करके देखा जाये तो शक नहीं वृक्ष-वनस्पति में भी मानवीय चेतना का अस्तित्व स्पष्ट देखा जा सकता है। अगर यह लिखा जाय कि वृक्षों में श्वास-प्रश्वास क्रिया अन्य जीव-जंतुओं की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर और शक्तिदायक है, तो उसे आश्चर्यजनक नहीं माना जाना चाहिए। स्थूल दृष्टि से पौधों में नाक नहीं होती, फेफड़े भी नहीं होते, पर यदि सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) से देखें तो पौधे के पत्ते-पत्ते में श्वास छिद्र देखे जा सकते हैं। इन छिद्रों से ही वे श्वास लेते हैं। यह अलग बात है कि प्राकृतिक संतुलन बनाये रखने के लिए पौधे मनुष्य और अन्य जीवधारियों द्वारा छोड़ी हुई दूषित वायु

कार्बन डाई ऑक्साइड ग्रहण करते हैं और एवज में उनके लिए अमृत तुल्य ऑक्सीजन निकालते हैं। कार्बन डाई ऑक्साइड मूर्च्छित और अर्द्ध चेतन रखने वाली गैस है। इसी का प्रभाव है कि वृक्ष संधियोनि में अचेत और मूर्च्छित पड़े रहते हैं, यदि प्रकृति ने ऐसा नहीं किया होता तो वृक्षों के पास कोई जाता, अपशब्द बकता या उन्हें काटता तो अपने डाल रूप हाथ से वे जोर से तमाचा मार देते। ऐसा न कर प्रकृति ने किसी कर्मवश उन्हें अन्य जीवधारियों का पोषक बनाया। कर्मफल का सिद्धांत परमात्मा की न्याय व्यवस्था का अटल नियम है। वृक्ष वनस्पतियों के रूप में विद्यमान जीवात्माएँ संभवतः उसी व्यवस्था के अंतर्गत अपने किन्हीं कर्मों के कारण एक ही स्थान पर स्थिर रहने, हिलने-डुलने की क्षमता से वंचित कर दी गयी हों।

मनुष्यों में भी इसी प्रकार की कई कोटियाँ देखने में आती हैं। कई मनुष्य क्रोधी और क्रूर स्वभाव के देखे जाते हैं, तो कईयों में संतों के गुण और विशेषताएँ देखी जाती हैं। वृक्षों में भी यह गुण विद्यमान होते हैं। इन गुणों की विद्यमानता देखकर पता चलता है कि वे भी कर्म-बंधनों से बँधे जीव हैं, उनकी प्रकृति कैसी भी क्यों न होती हो। ऐसे क्रूरकर्ता एक वृक्ष का वृत्तांत लिखते हुए मेडागास्कर द्वीप की यात्रा करने वाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी खोजी डॉ० नेल्सन ने वहाँ पाये जाने वाले मनुष्य-भक्षी वृक्ष का उल्लेख किया है। नेल्सन ने लिखा है कि २५ से ३० फुट तक ऊँचे इन वृक्षों में थाली जितना एक बड़ा आकर्षक फूल होता है, दुष्ट और पापी लोग भोले-भाले सज्जनों को एक मिथ्या आकर्षण में बाँधकर ही तो लूटते हैं। इन वृक्षों का सुंदर फूल देखकर जो भी पक्षी या मनुष्य वहाँ पहुँच जाता है। वृक्ष एक-एक फीट से भी बड़े काँटे उनके शरीर में चुभाकर उनका रक्त चूस लेता है और उसके निर्जीव शरीर को फेंक देता है। रक्त चूसने के कुछ समय बाद तक यह फूल आकार में बढ़े हुए रहते हैं। धीरे-धीरे रक्त शरीर में पच जाता है, तब ये सामान्य स्थिति में आ जाते हैं।

आस्ट्रेलिया, मलाया, श्रीलंका और भारतवर्ष के असम, बंगाल क्षेत्र में 'घटपर्णी' नामक वृक्ष भी ऐसा ही होता है, इसके फल में एक प्रकार का चिपचिपा तरल द्रव लगा रहता है। कीड़े-मकोड़े, पक्षी उसे खाने बैठते हैं तो फल अपना मुँह बंद कर लेता है और उस दबाये हुए पक्षी या कीड़े को चूस डालता है। इस तरह के राक्षस वृक्ष संसार के और भी दूसरे भागों में पाए जाते हैं, पर इनका उल्लेख कोई आवश्यक नहीं है। दुष्टताएँ तो मनुष्य जाति में ही बहुत हैं, उन्हें ठीक किया जाना चाहिए।

पौधों में जीवन के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है, वे पौधे जिन्हें विज्ञान कभी तो पौधे कहता है और कभी जीव-जंतु। हायड्रा एक ऐसा जंतु है, जो देखने में सूखी लकड़ी-सा लगता है, इसके कई मुँह होते हैं। हर मुँह में कई-कई बाल होते हैं, यह अपना आकार घटा-बढ़ा भी लेता है। इसके मुँह में यह बाल ही इसके लिए हाथ और पैरों का काम दे जाते हैं।

शरीर से वृक्ष किंतु प्रकृति और स्वभाव से जंतु कहे जाने वाले इन पौधों में वेस्टइंडीज, फ्लोरिडा तथा कैलोफोर्निया में पाया जाने वाला पौधा कैरोपहोलिया, एस्पेरिया आपसिस, पत्थरों में रहने वाला एल्कोनियम तथा बैरियर रीफ (आस्ट्रेलिया) में पाए जाने वाले एक्टीनेरिया उल्लेखनीय हैं। इनकी आकृति किसी की गुलाब के फूल जैसी होती है तो किसी की सुंदर झाड़ फानूस-सी ऊपर से नितांत पौधे दिखने वाले यह जीव यदि स्वभाव से भिन्न नहीं होते तो उन्हें वृक्ष-योनि से अलग करना कठिन हो जाता।

समुद्र में पाया जाने वाला एक कोशीय जीव-'डायटन' किस श्रेणी में रखा जाय ? यह अभी तक भी वैज्ञानिकों के विवाद का विषय बना हुआ है। यह अमीबा की तरह भोजन भी ग्रहण कर सकता और वृक्षों की तरह प्रकाश संश्लेषण द्वारा भी अपनी जीवनी शक्ति का विकास करता है। इसीलिए इसे उभयनिष्ठ माना गया है। भारतीय तत्त्वदर्शियों ने इस सारे गूढ़ ज्ञान के आधार पर वृक्षों को संधियोनि कहा तो इसमें कोई

अत्युक्ति नहीं, हमें उनके सिद्धांत को समझना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है—

इयं कल्याण्यऽजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जहार सः। १०।८।२६

अर्थात् यह आत्मा जो कल्याण करने वाला है अविनाशी तत्त्व है। मृतप्राणी के घर शरीर में रहता है। जिसे आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है, वह सुख प्राप्त करता है जो उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, वही सब प्रकार से आदरणीय और सम्मानास्पद होता है।

प्रकृति ने जीवधारियों को कर्मवश संधियोनि में जन्म और जीवन दिया है। इनमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वे इस कारण सम्मान और सद्व्यवहार के पात्र नहीं हैं। जीव-जंतु कर्मवश इस योनि को प्राप्त हुए हैं, लेकिन मनुष्यों तथा जीवधारियों पर उनके अनंत उपकार हैं। उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता न रखी जाये, यह मनुष्य के लिए शोभाजनक नहीं है, इससे मानवीय बुद्धि का पतन ही होता है। वृक्ष वनस्पति के प्रति श्रद्धा और पूज्य भाव की परंपरा को बनाये रखने में मनुष्य की भाव-प्रवणता झलकती है, न कि अंधविश्वास और रूढ़िवादिता। यह भाव-प्रवणता केवल अपने सहचर-स्वजनों के प्रति ही नहीं, सभी वस्तुओं के प्रति व्यक्त की जानी चाहिए। पश्चिमी देशों में वृक्ष-वनस्पतियों के साथ सहृदयता और सद्भाव व्यक्त कर, उन पर होने वाले प्रभावों के बारे में काफी प्रयोग किये गये हैं।

● पेड़-पौधों से प्यार

इन प्रयोगों द्वारा बिना काँटों के गुलाब पैदा करने तथा अन्य वृक्षों में समय से पहले ही फल लगने के आश्चर्यजनक प्रयोग किये गये हैं, जिनमें सफलता भी मिली है। संभव है— संसार के किसी और भाग में भी अब ऐसे गुलाब के पौधे हों,

जिनमें काँटे न हों। बेर हों पर उनमें भी काँटे न हों, कुमुदनी हो पर दिन में भी खिलती हो, अखरोट के वृक्ष हों, जो ३२ वर्ष की अपेक्षा १६ वर्ष में ही अपनी सामान्य ऊँचाई से भी बड़े होकर अच्छे फल देने लगते हों, पर वे होंगे अमेरिका के केलिफोर्निया में विशेष रूप से तैयार किये गये पौधों की ही संतान। केलिफोर्निया में यह पौधे किसी वनस्पतिशास्त्री या किसी ऐसे शोध-संस्थान द्वारा तैयार नहीं किये गये, उसका श्रेय एक अमेरिकन संत लूथर बरबैंक को है, जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में प्रेम योग का अभ्यास किया और यह सिद्ध कर दिया कि प्रेम से प्रकृति के अटल सिद्धांतों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। यह पौधे और केलीफोर्निया का लूथर बरबैंक का यह बगीचा उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

एक बार एक सज्जन इस बाग में एक बिना काँटों वाला 'सेहुँड़' लेने गये, ताकि वे उसे अपने खेत के किनारे-किनारे थूहड़ के रूप में रोप सकें। अमेरिका क्या सारी दुनिया भर में संभवतः यही वह स्थान था जहाँ सेहुँड़ बिना काँटों के थे। बाग का माली खुरपी लेकर डाल काटने चला तो दूर से ही लूथर बरबैंक ने मना किया, बोले—आपसे काटते नहीं बनेगा। लाओ मैं काट देता हूँ। यह कहकर खुरपी उन्होंने अपने हाथ में ले ली और बोले—माना कि यह पौधे हैं, इनमें जीवन के लक्षण प्रतीत नहीं होते तथापि यह भी आत्मा है और प्रत्येक आत्मा प्रेम की प्यासी भावनाओं की भूखी होती है।

बरबैंक सेहुँड़ के पास बैठकर खुरपी से सेहुँड़ की डाल काटते जाते थे, पर उनकी उस क्रिया में भी जितना आत्मीयता और ममत्व झलकता था यह देखते ही बनता था, जैसे कोई माँ अपने बच्चे को कई बार दंड भी देती है, पर परोक्ष में उसका हित और मंगल भाव ही उसके हृदय में भरा रहता है, वैसे ही श्री बरबैंक सेहुँड़ को काटते जाते थे और भावनाओं का एक सशक्त स्पंदन भी प्रवाहित करते जाते थे—ऐ पौधे ! तुम यह न समझना

कि तुम्हें काटकर अलग कर रहे हैं। हम तो तुम्हारे और अधिक विस्तार की कामना से विदा कर रहे हैं। यहाँ से चले जाने के बाद भी तुम मुझसे अलग नहीं होगे। तुम मेरे नाम के साथ जुड़े हो, तुम मेरी आत्मा के अंग हो। माना लोक कल्याण के लिए तुम्हें यहाँ से दूर जाना पड़ रहा है, पर तुम मेरे जीवन का अभिन्न अंग हो। जहाँ भी रहोगे हम तुम्हें अपने समीप ही अनुभव करेंगे—ऐसी भावनाओं के साथ बरबैंक ने सेहुँड़ की दो-तीन डालें काट दीं और आगंतुक को दे दीं, आगंतुक उन्हें ले गया। इस तरह इस बाग की सैकड़ों पौध सारी दुनिया में फैली और बरबैंक के नाम से विख्यात हो गईं।

यह कोई गल्प कथा नहीं वरन् एक ऐसा तथ्य है कि जिससे सारे योरोप के वैज्ञानिकों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया कि क्या सचमुच ही भावनाओं के द्वारा पदार्थ के वैज्ञानिक नियम भी परिवर्तित हो सकते हैं ?

जिस तरह भारतवर्ष में इन दिनों नेहरू गुलाब, शास्त्री गेहूँ आदि नामों से पौधों, अन्न की विशेष नस्लें कृषि विशेषज्ञ वैज्ञानिक अनुसंधान से तैयार कर रहे हैं, उसी प्रकार बरबैंक रोज, पोटेटो (आलू), बरबैंक स्क्वैश, बरबैंक चेरी, बरबैंक वालनट (अखरोट) आदि सैकड़ों पौधों, फलों, सब्जियों तथा अन्नों की नस्लें बरबैंक के नाम से प्रचलित हैं, इन्हें बरबैंक ने तैयार किया यह सत्य है, पर किसी वैज्ञानिक पद्धति से नहीं, यह उससे भी अधिक सत्य है। यह सब किस तरह संभव हुआ उसका वर्णन स्वयं लूथर ने अपने शब्दों में 'दि ट्रेनिंग ऑफ ह्यूमन प्लांट' नामक पुस्तक में निम्न प्रकार लिखा है। यह पुस्तक न्यूयार्क की सेंचुरी कंपनी से १९२२ में प्रकाशित हुई है। लूथर लिखते हैं—

"आत्म-चेतना के विकास के साथ मैंने अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक परमाणु आत्मामय है। जीव-जंतु ही नहीं, वृक्ष-वनस्पतियों में भी वही एक आत्मा प्रभासित हो रहा है—यह जानकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैं वृक्षों की प्रकृति पर विचार

करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इनमें जो काँटे हैं, वह इनके क्रोध और रुक्षता के संस्कार हैं। संभव है—लोगों ने इन्हें सताया, कष्ट दिया, इनकी आकांक्षाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए ये इतने सुंदर फूल-फल देने के साथ ही काँटे वाले भी हो गये।"

यदि ऐसा है तो क्या इन्हें प्रेम और दुलार देकर सुधारा भी जा सकता है ? ऐसा एक कौतूहल मेरे मन में जाग्रत् हुआ। मैं देखता हूँ कि सारा संसार ही प्रेम का प्यासा है। प्रेम के माध्यम से किसी के भी जीवन में परिवर्तन और अच्छाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, तो यह प्रयोग मैंने पौधों पर आरंभ किया।

गुलाब का एक छोटा पौधा लगाया, तब उसमें एक भी काँटा नहीं था। मैं उसके पास जा बैठता मेरे अंतःकरण से भावनाओं की सशक्त तरंगें उठतीं और मेरे पास के वातावरण में विचरण करने लगतीं। मैं कहता—मेरे प्यारे बच्चे, मेरे गुलाब ! लोग फूल लेने इस दृष्टि से नहीं आते कि तुम्हें कष्ट दें। वह तो तुम्हारे सौंदर्य से प्रेरित होकर आते हैं। वैसे भी तुम्हारा सौंदर्य, तुम्हारी सुवास विश्व-कल्याण के लिए ही है। जब दान और संसार की प्रसन्नता के लिए उत्सर्ग ही तुम्हारा श्रेय है तो फिर यह काँटे तुम क्यों उगाते हो ? तुम अपने काँटे निकालना और लोगों को अकारण कष्ट देना भी छोड़ दो, तो फिर देखना कि संसार तुम्हारा कितना सम्मान करता है। अपने स्वभाव की इस मलिनता और कठोरता को निकालकर, एक बार देखो तो सही कि यह सारा संसार ही तुम्हें हाथों ही हाथों उठाने के लिए तैयार है या नहीं।

गुलाब से मेरी ऐसी बातचीत प्रतिदिन होती। भावनाएँ अंतःकरण से निकले और वह खाली चली जाएँ तो फिर संसार में ईश्वरीय अस्तित्व को मानता ही कौन ? गुलाब धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसमें सुडौल डालियाँ फूटीं, चौड़े-चौड़े पत्ते निकले और पाव-पाव भर हंसते-इठलाते फूल भी निकलने लगे, पर उसमें क्या मजाल कि एक भी काँटा आया हो ? आत्मा को आत्मा प्यार से

कुछ कहे और वह उसे ठुकरा दे—ऐसा संसार में कहीं हुआ नहीं, फिर भला बेचारा नन्हा-सा पौधा ही अपवाद क्यों बनता ? उसने मेरी बात सहर्ष मान ली और मुझे संतोष हुआ कि मेरे बाग का गुलाब बिना काँटों का था।

अखरोट का धीरे-धीरे बढ़ना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था मैंने उसे पानी उतना ही दिया, खाद उतनी ही दी, निकाई और गुड़ाई में भी कोई अंतर नहीं आने दिया, फिर ऐसी क्या भूल हो गई, जो अखरोट ३२ वर्ष में ही बढ़ने की हठ ठान बैठा। मैंने समझा इसे भी किसी ने प्यार नहीं दिया।

मैंने उसे संबोधित कर कहा—मेरे बच्चे ! तुम्हारे लिए हमने सब जुटाया, क्या उस कर्तव्यपरायणता में जो तुम्हारे प्रति असीम प्यार भरा था, उसे तुम समझ नहीं सकते। तुम मेरे बच्चे के समान हो, तुम्हें मैं अलग अस्तित्व दूँ ही, कैसे ? हम तुम एक ही तो हैं। आज माना कि दो रूपों में खड़े हैं, पर एक दिन तो यह अंतर मिटेगा ही। क्या हम उस आत्मीयता को अभी भी स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकते ? तुम उगो और जल्दी उगो, ताकि संसार में अपने ही तरह की और जो आत्माएँ हैं उनकी कुछ सेवा कर सकें।

अखरोट बढ़ने लगा और १६ वर्ष की आधी आयु में ही अच्छे-अच्छे फल देने लगा। इसी तरह कद्दू, आड़ू, नेक्टारीनेस, बेरीज, पापीज आदि सैकड़ों पौधों पर प्रयोग कर श्री बरबैंक ने उन्हें प्रकृति के समान गुणों से पृथक् गुणों वाले पौधों के रूप में विकसित कर यह दिखा दिया कि प्रेम ही आत्मा की सच्ची प्यास है। जिस प्रकार हम स्वयं औरों से प्रेम चाहते हैं, वैसे ही बिना किसी आकांक्षा के दूसरों को प्रेम लुटाने का अभ्यास कर सके होते, तो आज सारा संसार ही सुधरा हुआ दिखाई देता। प्रेम का सिद्धांत ही एक मात्र वह साधन है जिससे छोटे-छोटे बच्चों से लेकर पारिवारिक जीवन और पास-पड़ौस के लोगों से लेकर सारे समाज, राष्ट्र और विश्व को भी वैसा ही सुधारा और सँवारा जा सकता है जैसे—बरबैंक ने पेड़-पौधों को विलक्षण रूप में सँवारकर दिखा दिया।

श्री बरबैंक ने श्री योगानंद नामक भारतीय योगी से क्रिया योग की दीक्षा ली थी। उनका निधन १९२६ में हुआ, तब लोगों के मुख से एक ही शब्द निकला था—प्रेम-प्रयोगी का निधन सारे विश्व की क्षति है, वह कभी पूरी नहीं हो सकती।

श्री बरबैंक तत्त्वदृष्टा थे। प्रेम का अभ्यास उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तक से करके ही आत्मानुभूति प्राप्त की थी। उसी से वे सिद्ध हो गये थे। उनकी भविष्यवाणियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण होती थीं। लंदन से प्रकाशित होने वाली 'ईस्ट' और वेस्ट' पत्रिका में उन्होंने 'साइंस एंड सिवलाइजेशन' नाम से लेख प्रकाशित किया। उसमें लिखा था—

"संसार को सुधारने की शक्ति पूर्व में केवल भारतवर्ष के पास है। पश्चिमी देशों को वहाँ की योग-क्रिया और प्राणायाम की विधियाँ सीखने के साथ प्रेम, दया, करुणा, उदारता, क्षमा, मैत्री के भाव भी सीखने और आत्मसात् करने चाहिए। मैं देख रहा हूँ कि भारतवर्ष उसके लिए अपने आपको तैयार कर रहा है और एक दिन सारे संसार को ही उसके कदमों में झुककर जीवन जीने की शुद्ध पद्धति और आत्म विज्ञान सीखना पड़ेगा, इससे ही संसार का कुछ वास्तविक भला होगा।"

१९४८ में लंदन के एसोसिएटेड प्रेस में पत्रकारों ने मानवीय भावनाओं के महत्त्व पर प्रकाश डाला था और कहा था—ईश्वर की ओर से मनुष्य को यदि कोई सर्वोपरि मूल्यवान् उपहार दिया गया है तो वह उपहार भाव-संपदा ही है। एक-दूसरे के प्रति, प्राणी मात्र के प्रति, व्यक्त की जाने वाली भावनाओं के माध्यम से ही हम यह जान सकते हैं कि कोई व्यक्ति ईश्वर के दिये इस अनुदान का मूल्य कितना क्या समझता है तथा इसका किस प्रकार सदुपयोग करता है ? इन भावनाओं के विकास, उनके सदुपयोग तथा परिष्कारपूर्वक ही कोई व्यक्ति समस्याओं और जटिलताओं से भरे संसार में सुख शांतिपूर्वक रह सकता है।

☐ ☐

सद्भाव संपन्नता विकसित चेतना का प्रमाण

सर्वत्र सब प्राणियों में व्याप्त ईश्वरीय सत्ता के दर्शन स्थूल नेत्रों से नहीं किये जा सकते, उसका दर्शन और आनंद पाने तथा लाभ उठाने के लिए तो अपनी ही अंतःचेतना को विकसित करना होगा। अंतःचेतना को विकसित करने का आधार अपने स्वार्थों की संकीर्ण सीमा तोड़कर समष्टि चेतना तक अपने भाव की परिधि व्यापक बनाना है। अपने ही समान आत्मा है, सबमें एक ही परमात्मा का वास है। आस्थाओं का विकास जब इस संसार स्तर तक कर लिया जाता है तो व्यक्ति ईश्वर सामीप्य की आनंदानुभूति करने योग्य बन जाता है।

यदि स्वार्थों और क्षुद्र वासनाओं के कारण दिक्भ्रांत न हुआ जाय तो व्यक्ति का मूल स्वभाव सबके साथ तादात्म्य स्थापित करने का है लेकिन स्वार्थ और वासनाओं के कारण ही व्यक्तिवाद, मोह, स्वजनों से आसक्ति आदि के दोष उत्पन्न होते हैं, पिछले दिनों दर्शन क्षेत्र में इसी आधार पर उपयोगितावादी विचारधारा की प्रतिष्ठापना की गयी।

उपयोगितावादी (यूटिलिटेरियनिज्म) दर्शन के विश्वविख्यात प्रवर्तक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लिखा है—"संसार में सबको सुख या आनंद की खोज है। सुख जीवन का लक्ष्य है और यह स्वाभाविक है कि मनुष्य आजीवन उसकी खोज करे। कई बार ऐसी परिस्थिति आती है, जब हमें एक सुख दूसरे से अधिक अच्छा लगे तो हमारे लिए वही इष्ट हो जाता है, भले ही उसको प्राप्त करने में अशांति का सामना करना पड़े। मनुष्य सुख चाहता है, वस्तुएँ चूँकि उन सुखों की माध्यम हैं, इसलिए हम वस्तुओं का संग्रह करते समय भी केवल सुख प्राप्ति

का प्रयत्न करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि आनंद मनुष्य जीवन में प्रमुख है और आचरण अप्रमुख।

अर्थात् यदि मांस खाने से सुख की वृद्धि हो सकती है तो मांस खाना बुरा नहीं। यदि काम वासना की अधिक तृप्ति के लिए सामाजिक मर्यादाएँ तोड़ी जा सकती हैं तो वैसा करना पाप नहीं। धन अधिक और अधिक सुख देने में सहायक है, इसलिए अधिकाधिक धन कमाने में यदि प्रत्यक्ष किसी पर दबाव न पड़ता हो तो वैसा किया जा सकता है, अर्थात् झूठ बोलकर, कम तोलकर, मिलावट आदि जितने भी व्यापार के भ्रष्ट नियम हैं, वह पाप नहीं हैं, यदि हमारे सुख की मात्रा उससे बढ़ती हो। बड़ी बलवान् शक्तियों द्वारा कमजोर छोटी शक्तियों का शोषण इस सिद्धांत का ही समर्थित व्यवहार है। जॉन स्टुअर्ट और उनके सब अनुयायी इसके लिए प्रकृति को प्रत्यक्ष स्वयंभू उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि बड़ी मछली छोटी को खाकर अपनी शक्ति बढ़ाती है। बड़ा वृक्ष छोटे वृक्ष की भी खुराक हड़प कर लेता है, आदि। इन सब बातों को देखकर मनुष्य के लिए भी उपयोगितावादी सिद्धांत का समर्थन होता है।

जहाँ तक सुख की चाह का प्रश्न है, जॉन स्टुअर्ट के सिद्धांत का कोई भी विचारशील व्यक्ति खंडन नहीं करेगा। हम दिन रात आनंद के लिए भटकते हैं, पर हमने शुद्ध आनंद की व्याख्या और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न किये कहाँ ? दुःख के प्रमुख कारण हैं—(१) अशक्ति (२) अज्ञान और (३) अभाव। यदि संपूर्ण जीवन को इकाई मानकर देखें और इन तीनों कारणों को दूर करने के प्रयत्नों पर विचार करें तो संयम, स्वाध्याय आदि के द्वारा ज्ञान वृद्धि और श्रम एवं क्रमिक विकास ही वह उपयुक्त साधन दिखाई देते हैं, जिनके अभ्यास से उन्हें दूर किया जा सकता है और आनंद प्राप्ति की अपनी क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

आनंद वृद्धि के लिए उपयोगितावादी सिद्धांत हमें निरंतर भौतिकता की ओर अग्रसर करते हैं और हमारी आध्यात्मिक

आवश्यकताओं को उस तरह भुलावा देते हैं, जैसे—रेगिस्तान के शुतुरमुर्ग शिकारी का देखकर, अपना मुख बालू में छिपाकर अपनी सुरक्षा अनुभव करते हैं। आज के संसार में बढ़ रही अशांति और असुरक्षा इस सिद्धांत की ही देन है।

प्रकृति में बड़ी शक्तियों द्वारा छोटी शक्तियों के शोषण के सिद्धांत अपवाद मात्र हैं। अधिकांश संसार तो सहयोग और सामूहिकता के सिद्धांत पर जीवित हैं। उस क्षण की कल्पना करें, जब सारे संसार के लोग बुद्धि-भ्रष्ट हो जाएँ और परस्पर शोषण पर उतर आएँ तो सृष्टि का विनाश एक क्षण में हो जाए। हम प्रकृति को सूक्ष्मता से देखें तो पायेंगे कि उसका अंतर्जीवन कितना करुणाशील है। छोटे-छोटे जीव-जंतु, वृक्ष वनस्पतियाँ भी किस प्रकार परस्पर सहयोग और मैत्री का जीवनयापन कर रहे हैं। मानवीय सभ्यता तो जीवित ही इसलिए है कि इतने भौतिक विकास के बाद ही हम मनुष्य-मनुष्य के प्रति प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहयोग और सामूहिकता के संबंध को तोड़ नहीं सकते।

गाँवों के किसानों से कोई पूछे कि वे एक खेत में कई फसलें मिलाकर क्यों बोते हैं ? तो उपयोगितावाद के सिद्धांत का खंडन करने वाले तथ्य ही सामने आयेंगे। ज्वार और अरहर साथ-साथ बोई जाती हैं। मूँग, उड़द और लोबिया आदि दालें भी ज्वार के साथ बोई जाती हैं। ज्वार का पौधा बड़ा होता है, यदि उपयोगितावाद प्रकृतिगत या ईश्वरीय नियम होता है, तो वह इन दालों को पनपने न देता। होता यह है कि दालों को ज्वार के पौधों में बढ़ने और हृष्ट-पुष्ट होने में सहायता मिलती है। उधर ज्वार को नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है, सो वह काम अरहर पूरा करती है। वह वायुमंडल से नाइट्रोजन खींचकर कुछ अपने लिये रख लेती है, शेष ज्वार को दे देती है, जिससे वह भी बढ़ती और अच्छा दाना पैदा करने की शक्ति ग्रहण करती रहती है। हमारे देश का सामाजिक ढाँचा इसी दृष्टि से बनाया गया था। वर्ग बँटे थे, लुहार अपना काम करता था, बढ़ई अपना, नाई, तेली,

मोची, भंगी सब अपना-अपना काम करते थे और अपने जीवनयापन के साधनों को परस्पर विनिमय के द्वारा बाँट लेते थे।

इस तरह परस्पर स्नेह, आत्मीयता और प्रेम-भाव बना रहता था, तब मुद्राओं का ऐसा प्रचलन न था। आज मुद्रा स्वयं ही एक समस्या बन गई है और इस प्रकार का सहयोग न होने से आर्थिक खींचा-तानी पैदा हो रही है। साम्यवाद और पूँजीवाद का संघर्ष परस्पर सहयोग के सिद्धांत की अवहेलना के फलस्वरूप ही है।

बेल वृक्षों के सहारे ही बड़े अच्छे ढंग से बढ़ती है, उसे किसी घने वृक्ष की छाया न मिले तो बेचारी का जीवन ही संकट में पड़ जाये। यहाँ बड़ा छोटे के हितों की रक्षा करता है। अमरबेल बेचारी जड़हीन होने से स्वयं सीधे आहार नहीं ले सकती, इसके लिए उसे बड़े वृक्षों का ही संरक्षण मिलता है; जिनके पास भी साधन और संपत्तियाँ हैं, वे उसे अपनी ही न समझकर समस्त वसुधा की समझकर आवश्यकतानुसार उदारतापूर्वक अल्पविकसितों को बाँटते रहें तो विषमता उत्पन्न ही क्यों हो ? आर्थिक साधन ही नहीं, विद्या, बुद्धि, कला-कौशल, स्वास्थ्य, सौंदर्य आदि मानवीय विशेषताएँ भी एकत्र नहीं होनी चाहिए, हमारे पास जो भी योग्यता हो उसे पिछड़े वर्ग के विकास में स्वेच्छापूर्वक दान करना चाहिए।

बड़ी शक्तियाँ छोटी शक्तियों का शोषण करें यह प्राकृतिक नियम नहीं है। प्रकृति आश्रित को जीवन देने और उसके विकास में सहायता करने का कार्य करती है। 'छोटी-पीपल' महत्त्वपूर्ण औषधि है, वह अपना विकास किसी घने छायादार वृक्ष के नीचे ही कर सकती है। इलायची नारियल के वृक्ष की छाया में बढ़ती है। बड़ा पेड़ अपने नीचे के छोटे पेड़ों को खा ही जाये यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।

एक गाँव में एक अंधा रहता था, दूसरा लँगड़ा। एक दिन अकस्मात् गाँव में आग लग गई। समर्थ लोग अपना-अपना सामान लेकर सुरक्षित भाग निकले। लँगड़ा और अंधा दो व्यक्ति ही ऐसे

रहे, जिन बेचारों के लिए बाहर निकलना संभव न था। एकाएक अंधे को एक उपाय सूझा। उसने लँगड़े से कहा—यदि आप मुझे रास्ता बताते चलें तो मैं आपको कंधे पर बैठाकर यहाँ से निकल सकता हूँ और इस तरह हम दोनों ही यहाँ से सुरक्षित बच सकते हैं। लँगड़े को योजना पसंद आ गई। अंधे ने उसे कंधों पर बैठाया। लँगड़ा उसे दिशा दिखाता चला और इस तरह दोनों एक रास्ते से आग की लपटों से बचकर बाहर आ गये।

अंधे और लँगड़े की यह कहानी मनुष्य समाज की सुरक्षा और सुख के सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहाँ कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं, सब अपूर्ण हैं। डॉक्टर औषधिशास्त्र का पंडित हो सकता है, कानूनशास्त्र का नहीं। इंजीनियर मशीनों का ज्ञाता होकर भी व्यापारशास्त्र की दृष्टि से निरा बालक रहता है। वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ही बच्चों का शिक्षण आप कर लें उसके लिए, उसे प्रशिक्षित अध्यापकों वाले कॉलेज का ही सहयोग लेना पड़ेगा। अपूर्णताओं वाले संसार में यदि उपयोगितावाद को खुला समर्थन दिया जाने लगे, तो सबके सब अपने को उपयोगी मानकर छल-कपट, शोषण और अत्याचार करने लगें, ऐसी स्थिति में अशिक्षित किंतु स्वस्थ और बलिष्ठ भी अपने शरीर की उपयोगिता सिद्ध करना चाहेगा। वह चोरी, डकैती और दूसरी तरह के अपराध करेगा, क्योंकि उसे न्याय और नियंत्रण में रखने वाली बौद्धिक शक्ति स्वयं पंगु हो चुकी होती है। यदि सब उदारतापूर्वक एक-दूसरे से सहयोग का मार्ग अपना लें तो हर कोई स्वल्प साधनों में भी आनंद की उपलब्धि कर ले। आज की स्थिति जो गड़बड़ है, उसका दोष इस उपयोगितावाद को ही दिया जा सकता है।

समुद्र में शंख पाया जाता है। उसका कीड़ा निकल जाता है, तब 'आर्थोपोडा वर्ग' का 'हरमिट क्रेब' नामक जल-जंतु उसमें जा बैठता है। सोचता तो वह यह रहता है कि यहाँ वह सुरक्षित रहेगा, किंतु यहाँ भी उसे शत्रु का भय बना रहता है। मछलियाँ उसे कभी भी पकड़कर खा जाती हैं। यदि उपयोगितावाद का सिद्धांत ही सत्य

और व्यावहारिक रहा होता तो इस कीड़े की वंशावली ही समाप्त हो गई होती।

पर प्रकृति ने उसकी सुरक्षा का प्रबंध भी किया है। वहीं पर 'फाइसेलिया' नामक एक जानवर पड़ा होता है। बेचारा अपने आहार के लिए चल-फिर नहीं सकता। आर्थोपोडा उसे अपने शंख की पीठ पर बैठा लेता है और उसे यहाँ से वहाँ घुमाता रहता है। प्रत्युपकार में फाइसेलिया उस आर्थोपोडा की रक्षा का भार स्वयं वहन करता है। फाइसेलिया अपने शरीर से काई की तरह एक दुर्गंधित पदार्थ निकालता रहता है, फलस्वरूप वह जहाँ भी रहता है मछलियाँ भयभीत होकर पास नहीं आतीं। यही द्रव छोटे-छोटे जंतुओं के मारने के काम आता है तथा इसे 'फाइसेलिया' और 'हरमिट क्रेब' दोनों को भोजन भी मिल जाता है और इस तरह आर्थोपोडा का जीवन सुरक्षित बना रहता है। इससे यह मालूम पड़ता है कि प्रकृति ने यदि सहयोग और सद्‌भाव की प्रेरणा अंतरंग से न दी होती तो सृष्टि के संपूर्ण प्राणियों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

एक कोषीय जीवों को प्रोटोजोन्स कहते हैं। इनके हाथ-पैर, मुख आदि कुछ नहीं होते। एक नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और उसके आस-पास 'साइटोप्लाज्म'। अमीवा एक ऐसा ही प्रोटोजोन है। इसी की जाति का 'पैरामीसियम' नामक जीव जब थक जाता है और जीवन शक्ति बहुत कम पड़ती जाती है या बुढ़ापा अनुभव करता है, तब दो पैरामीसियम मिलकर एक-दूसरे से साइटोप्लाज्म (एक प्रकार का द्रव-सा होता है, जिसमें पानी के अतिरिक्त गैस, खनिज-धातुएँ, लवण, पोटेशियम, फास्फोरस आदि विभिन्न तत्त्व होते हैं) अदल-बदल लेते हैं, इससे उनमें पुनः एक नई शक्ति आ जाती है। जबकि मनुष्य समाज अपने माता-पिता और बुजुर्गों का केवल इसलिए तिरस्कार करते रहते हैं, क्योंकि वे शक्ति और आजीविका की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाते हैं।

उपयोगी के प्रति आसक्ति, और रुझान तथा अनुपयोगी-अनावश्यक के प्रति उपेक्षा-तिरस्कार की वृत्ति प्रकृति

व्यवस्था के विरुद्ध है। प्रकृति मनुष्य को इस बुराई के विरुद्ध चेतावनी देती है और यह बताती है कि यदि मनुष्य स्वयं औरों से सहयोग, सहानुभूति प्राप्त करे तथा उनके प्रति भी वैसा ही सद्भाव रखें। उपयोगी जीवों के प्रति सेवा भाव रखना और अनुपयोगी के प्रति उपेक्षा तथा अनुदारता का भाव रखना—मानवीय कृपणता के अतिरिक्त कुछ नहीं। जिस तरह परस्पर व्यवहार में छोटों के प्रति सम्मान और कृतज्ञता की भावना रखते हैं, उसी प्रकार सभ्यता और प्रगतिशीलता का मापदंड यह है कि हम अनुपयोगी जीवों के प्रति भी वैसी ही उदारता की भावना रखें।

वैसे भी प्रकृति के संतुलन की दृष्टि से हर जीव उतना ही उपयोगी है जितने कि गाय, बैल, भैंस, घोड़े और गधे। चील, कौवे सड़े-गले मांस को ठिकाने न लगाएँ तो सारा वाातवरण दूषित हो जाये। अनेक बैक्टीरिया कृषि उपज के लिए अत्यधिक लाभदायक होते हैं। कई जीव-जंतुओं से बहुमूल्य चमड़ा और समूर मिलता है तो अनेक जीव परस्पर एक-दूसरे को खाकर ही एक-दूसरे की असह्य बाढ़ को नियंत्रित कर अंततः मानव जीवन के लिए उपयोगिता सिद्ध करते हैं। इस दृष्टि से सृष्टि का हर जीव उपयोगी और आवश्यक है। उनकी दुष्टता के प्रति ताड़ना का दृष्टिकोण रखा जाये, यहाँ तक उचित है। किंतु उनके प्रति दुष्टता का व्यवहार मनुष्य जैसे भावनाशील प्राणी के लिए कदापि उचित नहीं हो सकता। हमारी बुद्धि प्राणीमात्र के प्रति दया और करुणा की आत्मीयतापूर्ण संवेदना से ओत-प्रोत रहे यही मनुष्यता है। मात्र मनुष्य जाति के प्रति विनम्र और कृपालु रहना अपर्याप्त है।

आज देखने में यह आ रहा है कि मनुष्य जाति अपनी बढ़ती हुई मांसभोजी प्रवृत्ति के कारण वन्य-जीवों के अंधाधुंध वध पर तुल गयी है। बहुत-से लोग तो शौकिया भी शिकार करते और वन-सौंदर्य को उजाड़ने में अपनी शान समझते हैं। यह मानवीय

आदर्शों का अपमान नहीं तो और क्या है कि मनुष्य स्वार्थ के लिए दूसरे जीवों का वध करे।

वन्य-जीवों का शिकार प्रकृति के संतुलन को नष्ट-भ्रष्ट करने का एक अन्य जघन्य कृत्य ही नहीं, हिंसापूर्ण अपराध भी है। 'फ्रांसीसी' दार्शनिक लीवनित्स कहा करते थे—पृथ्वी पर जीवन की तीन अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुष्य रूप में जीवन जागता है, प्राणियों में जीवन स्वप्न देखता है और पेड़-पौधों में सोता है। हिंसा चाहे वह सोते व्यक्ति की की जाये या जागृत की एक ही बात है। सुप्त, तुरीय और जाग्रत् चेतना जीवन की विलक्षण गति और महारहस्य है, उसे उगते, चलते, उड़ते, निहारने का आनंद ही कुछ और है। हिंसा से तो दर्द ही पैदा होता है, जिसमें समान रूप से मनुष्य को भागीदार होना ही पड़ता है। साधु वास्वानी का कथन है—"हर जीव प्रकृति संगीत का स्वर है, हर प्राणी जगज्जननी प्रकृति का प्राण प्रिय पुत्र है, उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए, जीवों को प्यार न करना परमात्मा से प्यार न करने के बराबर है। कोई भी देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतंत्र नहीं जब तक मनुष्य के छोटे भाई मूक पशु स्वतंत्र और सुखी न हों।"

व्यावहारिकता इससे विपरीत देखकर दुःख होना स्वाभाविक है। अन्य जीवधारियों की तुलना में बुद्धिमान् और शक्तिशाली होने के कारण संभवतः उसे यह भ्रम हो गया है कि मानवेतर जीव उसके अनुचर और उपयोग के लिए हैं, इसी से वह उनका निरंतर उत्पीड़न करने पर तुल गया। आज स्थिति यह है कि अनेक सुंदर और उपयोगी जीव-जंतुओं की जातियाँ तो विलुप्त हो गईं, अनेक लुप्त प्रायः स्थिति में हैं। गत शताब्दी तक पिनग्यूनस इंपैर्निस नामक ओक ग्रीसलैंड, सेंट लारेंस, ग्रेट ब्रिटेन से आइसलैंड तक उन्मुक्त विचरण करता था। यह एक अच्छा तैराक पक्षी था। दक्षिण स्पेन से लेकर फ्लोरिडा तक का क्षेत्र इसकी क्रीड़ास्थली था, किंतु न्यूफाउंडलैंडवासियों ने इसका तीन शताब्दियों तक जघन्य वध किया। १८४५ में इसका एक जोड़ा आइसलैंड में बचा था, उसे भी सर्वभक्षी मानव ने मारकर उदरस्थ

कर, इसके जीवनदीप को ही बुझा दिया। अब मात्र उसके कंकाल ही संग्रहालयों में शेष रहे हैं।

५ कुंटल वजन का टाइटन जो २६७ वर्ष पूर्व मेडागास्कर का निवासी था, अब दुनिया से पूरी तरह उठ गया। लेब्रोडोर में पाई जाने वाली बतखों को लोगों ने मार-मार कर खा डाला। हरे खाकी रंग का शक्तिशाली टकाहा (नोटोर्निस-मेंटली) अपनी सुंदरता के लिए विश्व विख्यात था, उसे न्यूजीलैंड वालों ने मारकर वंशविहीन कर दिया। कोरिया का क्रस्टेड पहाड़ी बतख इसी शताब्दी में धरती से उठ गया। एक्टो पिस्टस कबूतर जो कभी पूर्वी अमेरिका में झुंड के झुंड उड़ा करते थे आसानी से शिकार हो जाने के कारण अब समूल नष्ट हो गये। अंतिम नमूने की मादा मार्था ने १९१४ में सिनसिनाटी चिड़ियाघर में अंतिम विदा ले ली, पर मानवीय-पिपासा फिर भी शांत न हुई। आज योरोपवासी इन्हें देखने के लिए तरसते और मात्र उसी के लिए भारतवर्ष तथा अफ्रीकी देशों में पर्यटन करते हैं, इससे प्रतिवर्ष लाखों डालर की राष्ट्रीय आय होती है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरह से जीव जगत् हमारा प्राकृतिक सहोदर है, उसकी रक्षा अपनी जाति अपने वंश के रूप में ही करने की आवश्यकता है।

हमारी शिक्षा, हमारे संस्कारों में प्राचीन काल से ही इन तथ्यों का समावेश रहा है। प्राचीनकाल में राजकुमारों तक के लिए प्रकृति के सान्निध्य में शिक्षा की व्यवस्था थी, उसका अर्थ ही यह था कि उस वातावरण में वे प्रकृति की विशालता को अनुभव करें और अपने को उसी के एक अंग के रूप में देखें। इसी से उस समय की साधना में मानवीयता के उन गुणों का प्रचुर विकास होता था। तब वन्य जीवन राजकीय संरक्षित संपदा मानी जाती थी। कौटिल्य ने उनके वध को अपराध मानकर दंड की व्यवस्था की थी।

न केवल मनुष्य अपितु मनुष्येत्तर जीव भी प्रकृति की सृजन चेतना के अंग हैं। भावनात्मक दृष्टि से भी दोनों समान हैं। कबीर की यह उक्ति निःसंदेह सच है—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।
का पर दाया कीजिये, का पर निर्दय होय।।

कीड़े, हाथी सभी जीवन के अंग हैं। यह सब दया के पात्र हैं, निर्दयता के नहीं, किंतु व्यवहार में आज हम भारतीय ही कितने पीछे हैं, यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी नागालैंड में प्रतिदिन औसतन ६ शेर मारे जाते हैं। आसाम के गोपालपुरा जंगल में ३० वायसन निरर्थक मार दिये जाते हैं तो राजस्थान में १० हजार से अधिक सैंड ग्राउज का शिकार होता है। लोमड़ियाँ, खरगोश, सियारों की प्रतिदिन की शिकार संख्या लाखों में है। मोर प्रतिवर्ष १० हजार तक मार दिये जाते हैं। वन्य-पशुओं का यह विनाश न केवल शर्मनाक, अपितु मनुष्य के लिए कलंक की बात है।

इसे संतोष की बात भी कह सकते हैं, गौरव की भी। पक्षियों की संख्या विश्व के किसी भी देश की तुलना में भारत में अधिक हैं। गिद्ध, चील, कौवे आदि कुछ गिने-चुने पक्षियों को छोड़, देश में अनुमानतः ३३०० तरह के शाकाहारी पक्षी हैं। धार्मिक भावना के कारण इनका वध न किये जाने के कारण ही अब तक इस संपदा को बचाये रहना संभव हुआ है। आज यह विदेशी मुद्रा कमाने का एक साधन बन गये हैं। आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, बेल्जियम, पश्चिमी, जर्मनी, जापान, स्वीडन आदि देशों में भारतीय पक्षियों की बहुत माँग है। योरोप और अमेरिका के लोग भारत के राष्ट्रीय पक्षी मोर को प्राप्त करने के लिए बड़ी से बड़ी रकम देने को तैयार रहते हैं। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय सरकार ने इनका निर्यात रोक दिया है।

किंतु तथाकथित आधुनिक सभ्यता और मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण यहाँ भी इनका शिकार होने लगा है। इस निर्दयता के फलस्वरूप योरोपीय ही नहीं, अनेक भारतीय जीव-जंतु भी अब लुप्तप्राय हो चले। म० प्र० में जहाँ के जंगलों में हजारों की संख्या में शेर, बारहसिंगे और जंगली भैंसे विचरण किया करते थे, अब केवल ४५० शेर बचे हैं। बारहसिंगे मात्र कान्हा

राष्ट्रीय उद्यान में बचे हैं। जंगली भैंसा अब केवल बस्तर जिले में बचा है। काला हिरण अमावस का चंद्रमा हो गया। गीर सहित शेष देश में कुल १३०० शेर बचे हैं। सोहन चिड़िया जो फसलों के लिए वरदान थी, कीड़े-मकोड़े खाकर फसल की रक्षा करती थी, अब लुप्तप्राय हो चली है। ये सब कुछ वर्ष पूर्व के आँकड़े हैं। वर्तमान समय में इनकी संख्या और भी कम हो गई है।

१८४६ में उत्तरी-पश्चिमी हिमालय में भूरे रंग का बटेर बहुतायत से पाया जाता था, किंतु उसके बाद जो इसकी हिंसा प्रारंभ हुई तो १८७६ तक यह लुप्तप्राय हो चला। मेजर जी० कारविथन ने तब इसके नैनीताल में होने का प्रमाण दिया था, उसके बाद से एक भी भूरा बटेर जो अपनी लंबी पूँछ, लाल चोंच के कारण दर्शनीय पक्षी था, आज तक मिला ही नहीं। इसी तरह गोदावरी तट से आंध्र प्रदेश के पेन्नार तक पाए जाने वाले कोर्सन १९०० के बाद आज तक ही नहीं दिखाई दिए, उसके अंतिम दर्शन डॉ० कैंपबेल ने अनंतपुर में किये। हिमालय की तराई में पाये जाने वाले गुलाबी सिर वाले बतख भी १९३५ तक ही जीवित रह सके। अब तो इसके मात्र १३ चमड़े राष्ट्रीय संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। वे अपने नैसर्गिक रूप में होते तो धरती कितनी सुंदर लगती, मनुष्य कितने प्रसन्न होते उन्हें देख-देखकर।

एक समय था जब धरती पर मनुष्य नहीं था तब १२० फुट लंबाई वाले १०२० मन वजन के विशाल डाइनासोरों से पृथ्वी शोभायमान थी। लाल शरीर के १२-१३ फीट वाले मैमथ हाथी उन्मुक्त विचरण करते थे। मनुष्य का आविर्भाव हो वे उससे पूर्व ही प्रकृति की गोद में समा गए और मनुष्यों के लिए धरती खाली कर दी। कौन जाने आज का मानव ३५०० मन वाली ११३ फीट लंबी नीली ह्वेलों और १६ फुट के जिरैफों को ही विलुप्त न कर दे, फिर तो जीवन के अद्‌भुत रहस्य, कहानियों की वस्तु रह जायेंगे, उससे मानव मन को प्रेरणाएँ तो मिलेंगी ही कहाँ से ?

इन दिनों "इकोलोजी" नामक एक नये विज्ञान का विकास हो रहा है, उसके अनुसार मनुष्येतर प्राकृतिक जीवों को भी समष्टि चेतना का ही अंग माना गया है। आज वन्य जीवों के विनाश से उत्पन्न हो रही समस्याओं को "एकोलोजिकल बैलेन्स डिस्टर्व" की संज्ञा देकर समय रहते उसे सुधारने को चेतावनी दी गई है, इसमें न केवल वृक्ष, वनस्पति, अपितु जीवों को भी समान रूप से महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की न तो शोभा है, न अस्तित्व। इसलिए इस संपदा के संरक्षण की सब प्रकार से आवश्यकता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री डॉ० फैंक हिबन ने अपने कुछ साथियों के सहयोग से लुप्तप्राय जीवों के संरक्षण का एक अभियान प्रारंभ किया है। यह कार्य न्यू मैक्सिको विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में चल रहा है। अफ्रीका की बारबारी भेड़ें तथा एंटीलोप, साइबेरिया के आबेक्स कुदू, ईरान से गैजिल, लाल एल्बुर्ज शिप तथा भारतीय मोर यहाँ रखे गये हैं। उनकी सुरक्षा और विकास के सभी प्रबंध किये गये हैं। यह सभी जीव यहाँ न केवल भली प्रकार पल रहे हैं, अपितु उन्होंने इस तथ्य को भी झुठला दिया कि जो वस्तु जहाँ की है वहीं रह सकती है। अफ्रीका से यहाँ कुल ५० भेड़ें आई थीं, आज उनकी संख्या ५ हजार से भी ऊपर हो गई। प्रकृति के इस सौंदर्य को यदि लुप्त होने से बचाया जा सके तो मनुष्य को उसके सर्वांगीण लाभ निश्चित रूप से मिल सकते हैं। इस तरह के प्रयास चलें तो अच्छी बात है, पर शिकार और मांसाहार के लिए तो जीव-वध कभी भी नहीं करना चाहिए, तभी इस वन्य-संपदा की सुरक्षा और प्राकृतिक संतुलन बना रह सकता है।

जीव दया को अब योरोपीय देशों में अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसके दो जीते जागते उदाहरण हैं। कनाडा के नगर विक्टोरिया के रोमन कैथोलिक चर्च की मदर सिसीलिया ने एक दिन अपने अहाते में तीन बकरियाँ देखीं, उन्हें जब वे भगाने लगीं तो देखा कि वे बार-बार दीवार से टकरा जाती हैं, बाहर

निकलने का दरवाजा उन्हें नहीं मिल रहा था। मदर सिसीलिया ने समीप जाकर देखा तो यह देखकर कि तीनों बकरियाँ अंधी होने के कारण ठोकरें खा रही हैं, उनकी आंतरिक करुणा उमड़ पड़ी। उन्होंने बकरियों को बाड़े में ही रखकर, उनके दाने-चारे का प्रबंध कर दिया। चर्च अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की तो वे बोली—"क्या ईसामसीह ने एक नन्हें भेड़ के बच्चे को गोद में उठाकर यह नहीं कहा था, जो जितना असहाय है वह उतना ही करुणा का पात्र है ?" चर्च के अधिकारी इस बात का प्रतिवाद न कर सके उल्टे मदर सिसोलिया की करुणा से वे भी अत्यधिक प्रभावित हो उठे। सिसोलिया को इसके लिए न केवल समूचे कनाडा, अपितु संपूर्ण योरोप से असीम सराहना- श्रद्धा मिली। इसके लिए लोगों ने स्वयं ही कोष स्थापित करने का सुझाव दिया। देखते ही देखते एक बड़ी स्थिर पूँजी जमा हो गई, जिसके सहारे अब वहाँ न केवल बकरियाँ, अपितु अपंग घोड़ों, अपाहिज बिल्लियों और अनाश्रित कुत्तों का एक ऐसा परिवार एकत्र हो गया है, जिससे लोगों को जीव दया की प्रेरणा मिलती है। यह दया की भावना का विकास मनुष्य को उसकी देहासक्ति बुद्धि से आत्मीय गुणों और संस्कार की ओर ले जाता है, जो इस युग की एक अदम्य आकांक्षा है।

इसी तरह का एक उदाहरण उत्तरी वेल्स (ब्रिटेन) की कोलविन खाड़ी में बनी आल्फ्रेड होरोबिन की पशुशाला है, जिसमें विभिन्न जाति के लगभग ५०० जीवों को आश्रय मिला है। आल्फ्रेड न केवल उनके लिए भोजन का प्रबंध करते हैं, अपितु उन्हें अपनी संतान की तरह स्नेह और प्यार भी प्रदान करते हैं।

भारतवर्ष में ऋषिकेश के समीप गाँधी जी की शिष्या मीरा बहिन का स्थापित पशुलोक भी इसी श्रेणी का एक जीव दया का उदाहरण है, किंतु यह अपवाद जैसे हैं। गौतम, गाँधी और भगवान् महावीर का यह देश इससे व्यापक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है, जिसमें मानव और अन्य प्राणी एक जीव-समुदाय के रूप में बसर न करें तो न सही, किंतु उनका शोषण और उत्पीड़न तो नहीं ही किया

जाना चाहिए। यह सभ्यता के नाम पर कलंक है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए इन निरीह प्राणियों का वध करे, उनसे अधिक काम लें तथा अनुपयोगी समझकर उनकी उपेक्षा करें।

करुणा में प्रकाश की तरह की उत्पादकता है। प्रकाश से हमें वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ का अंतर समझ में आता है। चेतन जगत् में जो कुछ भी सुंदर और सुसज्जित है, वह सब प्रकाश-कणों की देन है। इसी तरह जहाँ भी करुणा के दृश्य उदय होंगे वहाँ स्वार्थ और हिंसा के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष समझ में आने लगेंगे। साथ ही मनुष्य जीवन की सुंदरता और सुसज्जा मुखरित होगी, जो मानवीय प्रसन्नता के प्रधान आधार हैं। करुणा सदा छोटों के प्रति अपने भावनाशील व्यवहार से अभिव्यक्त होती है, अतएव यह आवश्यक है कि उनका अभ्यास जीव जगत् से प्रारंभ करें तो उसका प्रतिफल उत्पादकता के सिद्धांत पर मानव समुदाय में स्वयं परिलक्षित होने लगेगा।

परमात्मा का प्रकाश मानवी अंतःकरण में करुणा, दया और सहृदयता-सद्भाव के रूप में ही हुआ है। प्रकाश से हमें वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ का अंतर समझ में आता है। चेतन-जगत् के क्षेत्र में जो कुछ भी सुंदर और सुसज्जित है, वह सब परमात्मा की देन है। जहाँ भी करुणा, दया, प्रेम, सहृदयता और सद्भावना के दृश्य दिखाई देंगे, वहाँ ईश्वरीय विधान की न्यायपूर्ण व्यवस्था के अनुसार उसके सत्परिणाम भी मिलते हैं। करुणा, सहृदयता, सद्भावना का—उदारता, परमार्थ और भावना का विकास मनुष्य को ईश्वर के निकट लाता चलता है और उसका प्रतिफल मनुष्य जीवन में सुंदरता तथा सुसज्जा मुखरित होने के रूप में मिलता है। अतएव सद्भाव-संपदा के अभिवर्धन का अभ्यास जीव-जगत् से आरंभ करना चाहिए। यह अभ्यास न केवल व्यक्तिगत रूप से वरन् समष्टिगत रूप से भी आनंद सुख व शांति की अभिवृद्धि करने में सफल हो सकेगा। आवश्यकता ईश्वर के संबंध में अर्थहीन विवादों की नहीं, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अनुभूति के अभ्यास की है, जिससे जीवन धन्य होता जाता है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)